जीवात्मा

ओ३म्

जीवात्मा

लेखक

मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता

स्व० श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

एम० ए०

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

© सर्वाधिकार सुरक्षित

पुस्तक से कोई उद्धरण लेने या अनुवाद करने के लिए प्रकाशक की अनुमति अनिवार्य है।

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली–110 006
दूरभाष : 23977216, 65360255
e-mail : ajayarya@vsnl.com
Website : www.vedicbooks.com

Celebrating 83 years of Publishing (1925-2008)

संस्करण : 2008

मूल्य : 45.00 रुपये

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली–110 032

JEEVATMA *by* Pt. Ganga Prasad Upadhaya

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
संक्षिप्त जीवनी

६ सितम्बर १८८१ ई० को काली नदी के तट पर स्थित नंदरई (कासगंज) में जन्म हुआ। १० वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया। कष्ट के साथ हिन्दी और अंग्रेज़ी मिडिल कक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। मैट्रिक होते ही सरकारी नौकरी करके परिवार का पालन आरम्भ किया। इण्टर, बी० ए० और एम० ए० प्राइवेट रूप से पास किया। १९१२ में एम० ए० अंग्रेज़ी विषय में और १९२३ में एम० ए० दर्शन विषय लेकर उत्तीर्ण किया। आरम्भ से ही आर्यसमाज के कार्य में रुचि थी। सरकारी नौकरी से प्रचार-कार्य में बाधा पड़ती थी, अतः पेंशन का लालच न करते हुए १९१८ में सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया, और डी० ए० वी० हाईस्कूल इलाहाबाद में प्रधानाचार्य के पद पर कार्य करना आरम्भ किया। स्थानीय प्रचार के साथ-साथ आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिवेशनों में भाग लेते रहे। लेखों तथा व्याख्यानों द्वारा आर्यसमाज की सेवा करते रहे।

दर्शन तथा सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेकों उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे। १९३१ में 'आस्तिकवाद' ग्रन्थ पर 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने 'मंगला-प्रसाद पुरस्कार' प्रदान किया। सन् १९३१ में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के झाँसी अधिवेशन में 'दर्शन परिषद्' के सभापति निर्वाचित हुए। १९४१–१९४४ तक आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के प्रधान रहे। हैदराबाद-सत्याग्रह में श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के आदेश से निरन्तर कार्य करते रहे। १९४६ से १९५१ तक सार्वदेशिक आर्य प्रति-निधि सभा, दिल्ली के प्रधानमन्त्री रहे। १९५० में 'वैदिक कल्चर'

(अंग्रेजी) पर 'अमृतधारा पुरस्कार' मिला; उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा १९५१ में 'कम्युनिज़म' ग्रन्थ पर, १९५२ में 'ऐतरेय ब्राह्मण भाष्य' पर और १९५५ में 'जीवन-चक्र' पर पुरस्कार मिले। १९५० में आर्य प्रतिनिधि सभा दक्षिण अफ्रीका की रजत जयन्ती में सम्मिलित होने गए और कई मास तक उस देश में वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। सन् १९५१ में बर्मा, थाईलैण्ड और सिंगापुर प्रचारार्थ गए। आपने कश्मीर से लेकर सुदूरवर्ती दक्षिण तक आर्यसमाज का प्रचार किया। बंगाल, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र और पंजाब में अनेकों अवसरों पर सम्मेलनों के अध्यक्ष बनाए गए। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी भाषा पर उन्हें समान रूप से अधिकार था।

आपकी महती सेवाओं के लिए 'दीक्षा शताब्दी' समारोह, मथुरा' के अन्तर्गत २५ दिसम्बर १९५९ को राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी के कर-कमलों से अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया।

आपके दार्शनिक ग्रन्थों में आस्तिकवाद, अद्वैतवाद, जीवात्मा, Philosophy of Dayanand, Vedic Culture, Worship, Reason & Religion, Superstition, बारी ताला (उर्दू) मुख्य है। शांकरभाष्या-लोचन, सायण और दयानन्द, राममोहन राय, केशवचन्द्र, दयानन्द, शंकर-रामानुज-दयानन्द, कम्युनिज्म, सर्वदर्शनसंग्रह, धम्मपद, Buddha & Dayanand तुलनात्मक ग्रन्थ हैं। सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेज़ी अनुवाद Light of Truth नाम से किया है। मनुस्मृति, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण, मीमांसादर्शन के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किये हैं। इस्लाम के दीपक, आर्यसमाज और इस्लाम प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। आर्योदय (दो भाग) संस्कृत में काव्य हैं, क़ौसे-क़ज़ा उर्दू कविता-संग्रह।

आपने १०० से ऊपर ट्रैक्ट और १०० के लगभग उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण किया है। जीवन के अन्तिम क्षण तक आपकी लेखनी तीव्रता से चलती रही।

२९ अगस्त १९६८ को ८७ वर्ष की अवस्था में आपका प्रयाग में देहावसान हुआ। आपकी स्मृति में १२०० रुपये का 'गंगाप्रसाद पुरस्कार' दिया जाता है।

विषय-सूची

अध्याय १—'मैं' १७—२४

'मैं' का विश्वव्यापी प्रयोग १७, 'मैं' किसका नाम है ? १७, विरोचन और इन्द्र की कथा १७, शरीर और वस्त्र की तुलना १६, 'मैं' क्या हूँ, प्रश्न क्यों व्यर्थ नहीं २०, कार्लायल की सम्मति का निराकरण २२, प्रश्न की मीमांसा से लाभ २४।

अध्याय २—मेरा शरीर २५—२८

'मैं' और 'मेरा' २५, मेरी सत्ता और शरीर की सत्ता में भेद २६, क्या शरीर की हमसे अलग सत्ता नहीं ? २६, भूख और पीड़ा का उदाहरण २७।

अध्याय ३—मतभेद २६—३५

'मैं' प्रत्यक्ष विषय है या परोक्ष ? २६, मैं का भाव सबको मान्य है ३०, भावों की स्वभाव-सिद्धि ३०, 'मैं' के विषय में कितने मतभेद हैं ३१।

अध्याय ४—आरम्भ-बिन्दु ३६—४५

जिज्ञासा का बीज ३६, दार्शनिकों के दो भिन्न दल ३७, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण विज्ञान की आधारशिला हैं ३८, डीकार्टे की सम्मति, ३८, स्व-अनुभववाद ४०, जाग्रत्वाद तथा स्वप्नवाद के झगड़े ४२, शून्यवाद और अज्ञेयवाद की अनुपयोगिता ४२, सब वादों का समन्वय ४२, डीकार्टे के अनुसन्धान के नियम और उनकी उपयोगिता ४४।

अध्याय ५—अनुभव ४६—५१

'मैं' सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ—डीकार्टे ४६, हक्सले का आक्षेप और उसकी आलोचना ४७, 'मैं' इन्द्रियों से अलग हूँ ४७, 'मैं' का

ज्ञातृत्व और कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ४८, न्यायदर्शन में जीव के लिंग ४९, वैशेषिक में जीव के लिंग ५०।

अध्याय ६—मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ ५२—६१

स्टौट और मानसिक विश्लेषण ज्ञान-वृत्ति, भोग-वृत्ति, क्रिया-वृत्ति ५२, जेम्स की राय ५३, अपनी सत्ता का भान ५४, मेरा ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व ५४, 'अहं' और 'माम्' की एकता ५५, 'माम्' का विश्लेषण आधिभौतिक माम्, सामाजिक और आध्यात्मिक माम् ५५, ज्ञाता और ज्ञान-धारा ५७, मनोविज्ञान-शास्त्र का विषय ज्ञान-धारा है ५८, ज्ञाता का परीक्षण ५९, मनोविज्ञान की अन्य शास्त्रों से विशेषता ६०।

अध्याय ७—अहंकार ६२—६९

विचार के तीन भाग ६२, अन्तःकरण-चतुष्टय और अहंकार ६३, बर्कले के Ideas और Notion ६४, ह्यूम की आपत्ति और उसका कारण ६५, ह्यूम का असन्तोष ६६, पातंजलि योग का एक सूत्र ६८, ज्ञानधारा और जल-प्रवाह की तुलना ६९।

अध्याय ८—जीवात्मा के लक्षण ७०—७१

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व अणु ७१।

अध्याय ९—शरीर और शरीरी ७२—८०

क्या शरीर ही जीवात्मा है ? ७२, देह से अलग आत्मा नहीं ७२, मानसिक और शारीरिक अवस्थाएँ सहकारी हैं ७४, चेतनता का आश्रय मस्तिष्क ७५, आत्मा शरीर से भिन्न है—वेदान्त का तर्क ७६, शंकर की युक्तियाँ ७७, मन और मस्तिष्क के व्यापारों की भिन्नता—स्टौट का मत ७८।

अध्याय १०—इन्द्रियों की साक्षी ८१—८३

न्यायदर्शन के तीन सूत्र ८१, वैशेषिक ८३।

अध्याय ११—स्मृति और विस्मृति ८४—९४

कौन याद करता है और भूलता कौन है ? ८४, स्मृति मन को

होती है या आत्मा को ? ८५, शंकराचार्य का मत ८६, क्या स्मृति शरीर का धर्म है ? ८६, न्यायदर्शन और स्मृति ८७, इन्द्रिय-इन्द्रियान्तर विकार का कारण ८७, वात्स्यायन का मत ८६, जेम्स और memory ६१, स्टौट और memory ६२, स्मृति बढ़ाने की दवा ६३।

अध्याय १२—मस्तिष्क ६५—१०२

शरीर का लक्षण : न्याय का सूत्र ६५, क्या शरीर में मुख्य और गौण दो प्रकार के अंग हैं ? ६६, पक्षाघात में अनुभूति का अभाव ६६, मस्तिष्क के दो अंग—केन्द्रांग और प्रान्तस्थ अंग ६७, ज्ञान-तन्तु और प्रेरणा-तन्तु ६८, मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न अंगों का परिमाण बाहरी अंगों के परिमाण के अनुकूल नहीं ६८, प्रेरणा-क्षेत्र का इच्छाशक्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं १००, अन्तःकरण और मस्तिष्क का सम्बन्ध १०१।

अध्याय १३—समानान्तरवाद (Parallelism) १०३—११४

अन्तःकरण और स्नायु-संस्थान की समानान्तरता १०३, मन की तब्दीलियाँ तन्तुओं की तब्दीलियों से अधिक क्यों हैं ? १०४, ऐक्य ज्ञान के समानान्तर मस्तिष्क की कोई क्रिया नहीं १०५, तुलनात्मक प्रतीतियाँ १०६, विषय और विषयी का सम्बन्ध शारीरिक नहीं १०८, विचारों के असंख्य सम्बन्ध शारीरिक नहीं १०८, अभ्यास शारीरिक क्रिया नहीं है १०६, अन्तिम उद्देश्य शारीरिक क्रिया नहीं ११०, ध्यान की वृत्ति शारीरिक क्रिया नहीं ११२, समानान्तरवाद का हेत्वाभास ११३।

अध्याय १४—प्रतिक्रियावाद (Inter-actionism) ११५—१२६

क्लोरोफ़ॉर्म देने पर बेहोशी क्यों होती है ? ११६, मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की आवश्यकता ११७, भौतिक विज्ञान मस्तिष्क के व्यापार की व्याख्या नहीं कर सकता ११८, सामर्थ्य की अविनाशता (Conservation of energy) ११६, लैड (Ladd) की राय १२०, भौतिक सामर्थ्य अभौतिक चीज़ों में से दाख़िल होगा १२०,

'प्रश्न रहस्यमय है' इस आक्षेप का उत्तर १२१, विद्वान् की विद्वत्ता बताती है १२४, जहाज और जहाजी १२५।

अध्याय १५—अभौतिक आत्मा **१२७—१३८**

मन भौतिक है या अभौतिक? १२७, मन और माइंड १२७, तन्तु-गति और मानसिक क्रियाओं का भेद १२८, मस्तिष्क से विचार उत्पन्न नहीं हो सकते १३०, मानसिक विचार तन्तु-सम्बन्धी परिवर्तनों के पूर्वकालिक होते हैं १३२, मन अस्तित्व का अधिक अधिकारी है १३३, मानसिक जीवन में कई ऐसी बातें हैं जिनका शरीर की किसी अवस्था से सम्बन्ध नहीं है १३४, प्रबल मानसिक विचार शारीरिक क्रियाओं को रोक सकते हैं १३७।

अध्याय १६—भौतिकवादियों की असफलता **१३९—१४४**

१९वीं शताब्दी के रसायनज्ञ १३९, वोहलर ने यूरिया बनाया [१८२८] १४०, जस्टस लीबिग और कार्बनिक पदार्थों के तत्त्वों का परिणाम १४०, आणविक क्रम (Molecular arrangement) १४०, फलोज और द्राक्षोज का निर्माण [१८८७ ई०] १४०, जीवनशक्ति पर बिकेट (Bichat) की राय १४१, मैजेण्डी की सम्मति १४१, प्रेरकाणु (Enzymes) और कीटाणु (Bacteria) १४१, पास्चर (Pasteur) का अनुसन्धान १४२, कोक (Koch) और क्षय-रोग १४२, लैवरन (Laveran) और मलेरिया १४२, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान का समन्वय १४३।

अध्याय १७—स्वप्न और सुषुप्ति **१४५—१५६**

माण्डूक्य-उपनिषत् १४५, बृहदारण्यक १४७, प्रज्ञान-घन का अर्थ १४९, प्राज्ञ का अर्थ १५०, क्लोरोफ़ॉर्म और सुषुप्ति १५१, सुषुप्ति और जाग्रत् के बीच की अवान्तर दशाएँ १५१, क्लोरोफ़ॉर्म क्या करता है १५१।

अध्याय १८—तीन शरीर और पाँच कोश **१५७—१७३**

प्रिंसिपल रिचर्डसन की राय १५७, 'अभौतिक शब्द' निषेधात्मक है १५७, कौन होता है शरीर या आत्मा? १५९, कौन दुःखी है

शरीर या आत्मा ? १५६, जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध १५६, गीता और कठ की उपमाएँ १५६, कारण शरीर १६१, सूक्ष्म शरीर १६२, स्थूल शरीर १६३, पाँच कोश १६३, तैत्तिरीय-उपनिषत् १६३, अवस्था, शरीर और कोश १६५, पंचदशी में कोशों का वर्णन १६५, स्थूल शरीर बिना सूक्ष्म शरीर के काम नहीं कर सकता १६६, 'कोश' का क्या अर्थ ? १६७, प्राण का क्या अर्थ ? १६८, मनोमय कोश का विवरण १६६, विज्ञानमय कोश और प्रयोगशालाएँ १६६, आनन्दमय कोश मनोमय कोश से भिन्न है १७०, सूक्ष्म शरीर जड़ या चेतन ? १७०, प्रकृति और विकृति १७१, सांख्य में प्रकृति के लक्षण और उनमें दोष १७१, तन्मात्राएँ १७१, जब प्रकृति मौलिक अवस्था में नहीं है तो कारण शरीर कहाँ से आया ? १७२।

अध्याय १६—जन्म से पूर्व और मृत्यु के पीछे १७४—१८४

जीवात्मा शरीर में कब और कैसे आता है ? १७४, जन्म का अर्थ १७५, पिता के गर्भ में (ऐतरेय-उपनिषद्) १७५, माता के गर्भ में १७६, जन्म से पहले जीवात्मा कहाँ था ? १७६, सन्तान का व्यक्तित्व १७८, दो भाइयों में भेद १७६, पीपल और बरगद के छोटे बीज १७६, मृत्यु के पीछे क्या होता है ? १८०, शरीर का यांत्रिक संगठन जीवन नहीं है १८१, जीवन की पहेली १८१, गीता की आवाज़ १८२, वेदान्त के दो सूत्र १८३, उपचार की भाषा १८३, याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी को उपदेश १८४।

अध्याय २०—जीवन की प्रयोजनवत्ता १८५—१६१

विकासवाद और प्रयोजनवत्ता १८५, जीवन-व्यापार का अर्थ १८५, शरीर के अवयव निष्प्रयोजन नहीं १८६, बड़े भवन का दृष्टान्त १८७, शारीरिक विकास और मानसिक विकास १८८, जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् जीव रहता है या नहीं ? १८६, भिन्न-भिन्न आयु में मृत्यु १६१।

अध्याय २१—पुनर्जन्म —१६२—२०५

जब ज्ञान का विकास होता है तो जीव का आरम्भ क्यों न माना

जाय, १६२, डॉक्टर रॉबिन्सन का परीक्षण—नवजात बच्चों में लटकने की शक्ति १६३, बच्चे पुराने संस्कार लाते हैं १६४, टी० एच० ग्रीन और चेतन शक्ति १६४, दैहिक सम्बन्ध आकस्मिक है या स्वाभाविक ? १६७, अनन्त स्वर्ग और अनन्त नरक का प्रश्न १६७, निज अनन्यत्व (Personal identity) १६८, ह्यूम का अनन्यत्व खण्डन १६८, अनन्यत्व के भाव का निषेध नहीं हो सकता १६६, ह्यूम का व्यवहार १६६, पुनर्जन्म का सिद्धांत आदिकाल से है १६६, यूनानी, मिश्री तथा अन्य लोग पुनर्जन्मवादी थे १६६, टालमड में पुनर्जन्म २०१, बाइबल में पुनर्जन्म २०१, स्मृति का अभाव—उसके दो परिणाम २०१, विस्मृति की उपयोगिता २०१, सबसे अच्छा प्रमाण बच्चे का पिछला इतिहास २०३, न्यायदर्शन में पुनर्जन्म का हेतु २०४, वात्स्यायन की व्याख्या २०४, मास्टर मदन और रामानुजम् के उदाहरण २०५।

अध्याय २२—पशु और जीव २०६—२२५

ब्रेडला और जीव २०६, मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ पशुओं पर भी लागू हैं २०७, क्या पशुओं में ज्ञान नहीं ? २०७, Instincts और Reflex Raction २०७, स्त्रियों में जीव २०८, क्या प्रवृत्तियाँ (Instincts) चेतना-शून्य होती हैं ? २०६, डार्विन की प्रवृत्ति का अर्थ २०६, पशु हमारे भाई-बन्धु हैं २१०, पशुओं की बुद्धिमत्ता २१०, श्नीडर और पशु-प्रवृत्तियों के चार भेद २१२, स्टौट की सम्मति २१३, प्रवृत्ति परावर्तित क्रिया नहीं (स्टौट) २१३, लॉयड मॉर्गन और पशुओं के व्यापार २१६, प्रवृत्तियों पर शिक्षा का प्रभाव २१६, जेम्स की राय २१७, एडीरोडेक के जंगल का दृष्टान्त २१७, स्पैलिंग का अनुभव २१७, स्कॉटलैण्ड के कुत्ते २१८, प्रवृत्ति और स्मृति २१८, मनुष्य और पशु की चेतना का अन्तर २१८, सैनिक और फ़ाल-इन २२०, अभ्यास २२०, भय की प्रवृत्ति २२१, इस जीवन से पूर्व की प्रवृत्तियाँ शरीर द्वारा नहीं किन्तु आत्मा द्वारा आती हैं २२३, मनुष्य और पशु की तर्कशक्ति का अन्तर २२३, भोगयोनि और कर्मयोनि २२४, पशु कर्मयोनि क्यों नहीं ? २२४।

अध्याय २३—मुक्ति २२६—२३३

जीवात्मा की उन्नति का अर्थ २२६, परतन्त्रता और स्वतन्त्रता २२७, हज़रत अली की युक्ति २२७, नियन्ता के चातुर्य की उपमा २२४, सृष्टि का पुस्तकालय २२८, मुक्ति परमपद है २३०, मुक्ति स्थान-विशेष या वस्तु-विशेष नहीं २३०, मुक्ति और पहाड़ की चोटी की समानता २३१, साँप-सीढ़ी (Snake and ladder) २३२, सात्त्विक, राजसिक, तामसिक कर्म २३२ ।

अध्याय २४—योनि-परिवर्त्तन २३४—२४४

मनुष्य का डिम्ब (Ovum) और उसमें भावी शक्तियाँ २३४, व्यक्तीकरण २३७, सूक्ष्म शरीर का विकास और योनि-परिवर्तन २३७, मनुष्यों और पशुओं के स्वभावों में अन्तर २३८, मनुष्य सब योनियों का केन्द्र है २३८, पशुओं की-सी आदत २३८, सूक्ष्म शरीर और गर्भ-स्थिति २४०, समान प्रवृत्तियों का प्राकृतिक मेल २४२, क्या पुनर्जन्म भूलभुलैयाँ है ? २४३ ।

अध्याय २५—आधुनिक विकासवाद और योनि-परिवर्तन २४५—२५४

विकासवाद की सेवा २४५, आरम्भिक अमीबा की वृद्धि २४६, आधुनिक विकासवाद की कमी २४७, रसेल की सम्मति २४८, संवृद्धि (Growth) और सन्तति-प्रजनन (Reproduction) २४८, मनुष्यों और पशुओं के डिम्ब की समानता और भेद २५३, आदमी के पूँछ क्यों है २५३ ।

अध्याय २६—एक शरीर में अनेक आत्मा २५५—२६५

एक शरीर में कई शरीर २५५, अभिमानी और अनुभवी जीव २५५, चेतना के भिन्न-भिन्न भागों में ऐक्य २५६, एक शरीर में कई आत्मा होने पर व्यावहारिक आपत्ति २५६, भूत-प्रेत और डॉक्टरों का अनुभव, स्यानों और ओझाओं की चालाकी २५८, डॉक्टरों का अनुभव २५९, स्यानों और ओझाओं की चालाकी २५९, डॉक्टरों का अनुभव २५९, मिस बोचैम्प और सैली २५९, रेवरेंड बोर्न २५९, पैरी लैम्बर्ट

२६०, मृत आत्मा का बुलाना २६०, क्या सोते समय जीवात्मा शरीर को छोड़ देता है ? २६२, प्लेंचिट २६३, भूत-चुड़ैल आदि २६३, सूक्ष्म शरीर का फ़ोटो २६४।

अध्याय २७—पुनर्जन्म मुक्ति का साधन है २६६—२७७

भौतिक विकास में क्या होता है ? २६७, योनियों के दो काम—जातिगत और व्यक्तिगत २६७, शेर को क्यों हिंसक बनाया ? २६६, सृष्टि संगठन का उद्देश्य और सुधार है २६६, क्या उन्नत जीव अवनति नहीं कर सकता ? २६६, स्वतन्त्रता और गिरावट २७१, भिन्न-भिन्न योनियाँ अनिष्ट प्रवृत्तियों के लोप और इष्ट प्रवृत्तियों के आगम के लिए हैं २७२, पशुओं के कर्म के लिए उत्तरदायित्व २७२, पशु-योनि में बुद्धि के विकास का अभाव नहीं २७२, मनुष्य अपने कर्मों का किस आयु में उत्तरदाता है ? २७३, वात्स्यायन की राय २७३, बालक और पागल भी भोग-योनि हैं २७३, उत्तरदातृत्व की श्रेणियाँ २७४, कर्म-योनि और भोग-योनि सापेक्षिक शब्द २७४, अपेक्षाएँ सामाजिक हैं २७५, वर्णधर्म और आश्रम-धर्म विकास के साधन हैं २७६, लोकयात्रा ही परलोकयात्रा है २७६।

अध्याय २८—मुमुक्षुत्व, जीवनमुक्ति, मुक्ति २७८—२८६

सुख की इच्छा २७८, सुख और सुख के साधन में भेद २७८, मिथ्या ज्ञान (साधन को साध्य समझना) २७६, मिथ्या ज्ञान जादू से नहीं जाता २८१, विकास का क्रम और पारिवारिक जीवन २८१, मुमुक्षुत्व क्या है ? २८४, दोष और प्रवृत्ति का निवारण : वात्स्यायन की राय २८४, आध्यात्मिक आनन्द २८५, जन्म के बन्धन से छूटना २८५, मुक्ति-अवस्था की अज्ञेयता २८६।

अध्याय २६—पुनरावर्तन अर्थात् मुक्ति से लौटना २८७—२६८

मुक्ति-अवस्था अचल (Dynamic) है या अचल (Static) ? २८७, समाधि और मोक्ष में ब्रह्मरूपता २८८, स्वामी दर्शनानन्द की सम्मति २६१, मुक्ति से न लौटने के प्रमाण २६१, स्वामी दयानन्द और पुनरावर्तन २६२, मुक्ति के विषय में भिन्न-भिन्न धारणाएँ २६२,

उपनिषद् में नाम और रूप छोड़ने का नाम मुक्ति है २९२, मुण्डक और कैवल्य का पाठभेद २९२, परान्तकाल का अर्थ २९३, स्वर्ग शब्द का अर्थ २९३, छान्दोग्य का प्रमाण २९४, यजुर्वेद का मन्त्र [६।३०] २९५, मुक्ति और कर्तृत्व २९६, मुक्ति और भोग २९६, कर्म-योनि कौन-सी है ? २९७।

अध्याय ३०—जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध २९९—३१२

'ईश्वर हमारा बाप है' का अर्थ २९९, जीव ब्रह्म को क्यों बनाता है ? ३००, कुरान व बाइबल का कल्पित मत ३००, कुरान और बाइबल का यथार्थ मत ३०१, शंकराचार्य का मत—तादात्म्य-सम्बन्ध ३०१, जैनोफिन, पार्मेनीडीज और जैनो ३०१, माया की समालोचना ३०२, रामानुज का माया पर आक्षेप ३०२, शंकराचार्य और उपासना ३०३, जीव ब्रह्म का प्रकार है (रामानुज) ३०५, 'प्रकार' की आलोचना ३०५, पीले-काले धागे और उनका वस्त्र से सम्बन्ध ३०६, स्वभावों की संकरता ३०७, क्या जीव ईश्वर का अंश है ? ३०९, भेदाभेद-सिद्धान्त ३१०, रामानुज का जीवों के बहुत्व का खण्डन ३११, इसकी समालोचना ३१३, वेदों में जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध ३१५।

अध्याय १

'मैं'

'मैं' एक विश्वव्यापी शब्द है। बच्चे से लेकर बुड्ढे तक और मूर्ख से लेकर बुद्धिमान् तक सभी इसका प्रयोग करते हैं। 'मैं' खाता हूँ', 'मैं' सोता हूँ, 'मैं' जीवित हूँ, यह 'मैं' शब्द इतनी अधिकता से प्रयुक्त होता है कि साधारण पुरुषों को तो यह भी विचार नहीं होता कि इसमें किसी प्रकार की विशेषता है। परन्तु सृष्टि के आदि से लेकर आज तक किसी देश और जाति के दार्शनिक इस उलझन को नहीं सुलझा सके कि 'मैं' है क्या वस्तु? इस 'मैं' शब्द का वाच्य कौन पदार्थ हैं? हम किसको 'मैं' कहते हैं?

पाठकवर्ग! क्या आपके मन में कभी यह प्रश्न उठा है कि 'मैं' किसका नाम है? आप 'मैं' का प्रयोग एक ही दिन में सैकड़ों बार करते हैं। जब आप कहते हैं कि 'मैं' आया तो क्या आप बता सकते हैं कि यह 'मैं' क्या वस्तु है जो आई? आप कहेंगे कि यह कौन कठिन बात है! हम अपने-आप के लिए 'मैं' लाते हैं। परन्तु इतने मात्र से पीछा नहीं छूटेगा। थोड़ा-सा विचार कीजिये। सोचिये कि जिसको आप 'अपने-आप' कहते हैं, यह क्या वस्तु है?

छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। (प्रपाठक ८, खण्ड ७)—कहते हैं कि प्राचीन काल में दो पुरुष थे, एक का नाम था विरोचन और दूसरे का इन्द्र। इन दोनों के हृदय में यही प्रश्न उठा और वे शिष्यभाव से प्रेरित होकर बड़े आदर-पूर्वक हाथ में समिधाएँ लिये हुए आचार्य प्रजापति के पास पहुँचे और प्रश्न किया कि 'मैं क्या हूँ?'

प्रजापति उत्तर देने से पहले उनकी योग्यता की परीक्षा लेना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कहा, "थाली में पानी भर लो और अपना मुख उसमें देखो। अपने-आपको देख सकोगे। उसमें तुम्हारे मुख तथा अन्यान्य अङ्गों की प्रतिच्छाया दीख पड़ेगी। यही तुम हो।" (छान्दोग्य ८।८)

यदि किसी बच्चे से यह प्रश्न किया जाय कि तुम कौन हो तो वह अपने शरीर पर हाथ रखकर कह देगा कि मैं यह हूँ। यदि उससे पूछा जाय कि क्या तुम अपने को देखते हो तो वह झट दर्पण लाकर अपने को देखने लगेगा और कहेगा कि मैं ऐसा हूँ। यही दशा विरोचन और इन्द्र की हुई। उन्होंने अपने-अपने चित्र को जल में देखा और समझा कि जो कुछ रूप हमको जल में दिखाई दे रहा है वही हम हैं। उन्होंने उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण करके अपनी आकृति को जल में देखा और अपने सौन्दर्य को देखकर कहने लगे, "ओ हो! हम कैसे सुन्दर हैं!" जब प्रजापति ने इनकी प्रसन्नता देखी तो वह मन-ही-मन कुढ़ने लगे। वह कहते होंगे कि ये दोनों कैसे मूर्ख हैं जो वस्त्र और आभूषणों की प्रतिच्छाया को ही अपना स्वरूप समझ बैठे हैं!

विरोचन बड़ी प्रसन्नता से अपने साथियों में गया और कहने लगा, "मैं तो 'मैं' का पता लगा लाया। तुम सब दर्पण आदि में देखकर अपने स्वरूप की पहचान कर सकते हो।" जब उसने समझ लिया कि मेरा स्वरूप यही है जो दर्पण में दृष्टिगोचर होता है तो वह उसी शरीररूपी स्वरूप को परिष्कृत करने में तल्लीन हो गया। क्योंकि, उसने समझा कि शरीर को सुन्दर या सुदृढ़ करना ही अपने स्वरूप को 'सुदृढ़' करना है।

परन्तु इन्द्र कुछ समझदार था। उसके मन में एक विचार-तरङ्ग उठी। वह कहने लगा, "अरे! यदि वस्त्र-आभूषण आदि ही मेरा स्वरूप है तो 'मैं' कुछ भी नहीं, क्योंकि कपड़े मैले पड़ते ही, मैं भी मैला पड़ जाऊँगा। आभूषणों के टूटते ही मैं भी टूट जाऊँगा। अतः प्रतीत होता है कि दर्पण में जो दिखाई पड़ता है वह मेरा

स्वरूप नहीं हो सकता।" वह कहने लगा—

"नाहमत्र भोग्यं पश्यामि।" (छा० ८।९।२)

"मैं तो इसमें कुछ भलाई नहीं देखता।" इन्द्र की आशंका उचित ही थी क्योंकि जिन वस्त्रों को पहनकर हम अपने को सुन्दर बनाते हैं, या जिनको उतारकर अपने को कुरूप कहते हैं, वे वस्त्र हमारा स्वरूप कैसे हो सकते हैं? इन वस्त्रों को पहनना या उतार डालना तो हमारे ही हाथ में है। प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों रह जाता है, अर्थात् वह 'मैं' क्या हूँ जो वस्त्र पहनकर अपने को सुन्दर और वस्त्र उतारकर कुरूप कहता हूँ? यह तो स्पष्ट है कि मैं वस्त्र नहीं हूँ। वस्त्रों से इतर कुछ वस्तु हूँ। कुछ भी क्यों न हूँ, वस्त्र नहीं हूँ; वस्त्रों के फटने से मैं कभी-कभी दुःखी अवश्य होता हूँ और कहता हूँ कि "हाय, मेरा कुरता फट गया!" परन्तु मुझे ऐसा भान नहीं होता कि मैं फट गया। कभी-कभी मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने कुरते को उतारकर फेंक देता हूँ, या दूसरे को दे देता हूँ। उस समय भी मेरे हृदय में यह भाव नहीं उठता कि मैंने अपने को उतारकर फेंक दिया, या अपने किसी अंश को दूसरे को दे दिया। मेरा यही भाव होता है कि मैं पहले जैसा अब भी हूँ। केवल मैंने अपनी एक वस्तु, अर्थात् वह वस्तु जिसके साथ किसी प्रकार मेरा सामयिक सम्बन्ध हो गया, दूसरे को दे दी।

क्या यही हाल शरीर का भी नहीं है? हमारे शरीर का कुछ-न-कुछ अंश नित्यप्रति हमसे अलग हुआ करता है। जब हम स्नान करते हैं तो हमारे शरीर की खाल का ऊपरी भाग सड़-सड़कर अलग हो जाता है। मैल क्या है? त्वचा के ऊपर सड़े हुए अंश को ही तो मैल कहते हैं! आँख, कान, नाक इत्यादि से नित्यप्रति मल निकला करता है। यह मल उस शरीर का ही अंश है जो नित्यप्रति शरीर से अलग हुआ करता है; जब तक वह शरीर से सम्बन्धित है उस समय तक उसका नाम त्वचा, मांस, रुधिर, मज्जा आदि है। ज्योंही उसका सम्बन्ध छूटा, उसको मल या मैल कहने लगते हैं। जब हम अपने मैल को अपने शरीर से पृथक् करते हैं तो

क्या हमको कभी यह भान होता है कि हम अपने-आपको अलग कर रहे हैं? मूर्ख-से-मूर्ख पुरुष भी यह मानने के लिए उद्यत न होगा कि स्नान करते समय जिस वस्तु को उसने मल-मलकर शरीर से अलग कर दिया वह, उसी का स्वरूप या उसी का आन्तरिक अंश है। रहे ज्ञानवान् पुरुष, वे तो भलीभाँति समझ सकते हैं कि तत्त्वतः यह क्या वस्तु है। जब मैं स्नान करके प्रसन्नचित्त उठता हूँ तो मेरे हृदय में यह भाव कभी नहीं उठता कि 'मैं कम हो गया, पहले अधिक था।'

कल्पना कीजिये कि मेरे हाथ की उँगली कट गई। मुझे पीड़ा अवश्य होगी। मैं समझूँगा कि मेरे शरीर में कुछ क्षति हो गई। परन्तु क्या मेरा यह भाव होगा कि मैं कट गया? कल्पना कीजिये कि उँगली के कटने पर चिकित्सक ने उपचार करके मेरे घाव को चंगा कर दिया। अब कुछ पीड़ा नहीं है। न मैं कोई ऐसा कार्य कर रहा हूँ जिसमें उँगली की आवश्यकता पड़े। तो मेरे क्या भाव होंगे? क्या मैं समझूँगा कि 'अब अधूरा रह गया, पहले सम्पूर्ण था?' कदापि नहीं। वस्तुतः यदि मैं अपनी आँखें बन्द कर लूँ और थोड़ी देर के लिए ऐसा ध्यानावस्थित हो जाऊँ कि शरीर का कुछ भी ध्यान न रहे तो मुझे भी यह स्मरण नहीं रहेगा कि मेरे हाथ में चार उँगलियाँ हैं अथवा पाँच। इन सब बातों से यह भी स्पष्ट है कि मैं शरीर नहीं हूँ, किन्तु शरीर से इतर कोई वस्तु हूँ; शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। इसीलिये इन्द्र ने प्रजापति से कहा था—

"यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति, सुवसने सुवसनः, परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायस्मिन्नंधेऽन्धो भवति, स्रामे स्रामः, परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति" ।(छान्दोग्य ८।९।२)

—हे भगवन्, जिस प्रकार शरीर के अलंकृत होने पर यह आपका बताया दर्पण की प्रतिच्छाया-रूपी स्वरूप अलंकृत हो जाता है, उसी प्रकार शरीर के अन्धा, लँगड़ा, लूला होने पर अन्धा, काना या लँगड़ा-लूला भी हो जाता है और शरीर के नाश होने पर इसका

भी नाश हो जाता है, इसलिये मैं इसको अपना स्वरूप कैसे मान लूँ? मुझे तो इससे शान्ति नहीं होती।

वस्तुतः यदि शरीर का नाम ही 'मैं' हो तो फिर कोई झंझट ही नहीं रहता। हम मरने से क्यों डरें? जीवन की क्यों इच्छा करें? न हमको जीने से लाभ, न मरने से हानि और न अपने स्वरूप के खोजने से ही कुछ प्रयोजन है। स्वरूप जान लिया तो क्या? अन्त तो एक ही है, अर्थात् सर्वनाश। जो मूर्ख की गति है वही वैज्ञानिक या दार्शनिक की; जो सत्यवादी की गति है वही झूठे की; जो परोपकारी की गति है वही दुष्ट और अत्याचारी की। दोनों को एक-न-एक दिन 'नास्तित्व' के गढ़े में विलीन हो जाना है। न पहले कुछ था, न आगे कुछ होना है। न हम भूत में थे, न भविष्यत् में रहेंगे। इन दो बहुत बड़े गहरे और अन्धकारमय गढ़ों के बीच में एक पतली-सी दीवार-मात्र है, जिसपर हम बहुत देर तक स्थित नहीं रह सकते।

क्या वस्तुतः हम ऐसे ही हैं? क्या 'मैं' का यही स्वरूप है?

कुछ लोगों का विचार है कि इतना झगड़ा ही क्यों करना? संसार में जानने के लिए इतनी वस्तुएँ पड़ी हैं कि उन्हीं से अवकाश नहीं मिलता। 'मैं' की मीमांसा करने में व्यर्थ माथापच्ची क्यों करें?

ऐसे लोगों के दो दल हैं। एक तो वे हैं कि जिनको खाने-पीने और खुश रहने से फ़ुर्सत ही नहीं। उनको न तो 'मैं' जानने की आवश्यकता है, न अन्य किसी चीज़ के जानने की। ये आनन्दी जीव हैं—

सुबह होती है शाम होती है।
उम्र यूँही तमाम होती है॥

इनमें और पशुओं में कोई भेद नहीं। सम्भव है कि पशुओं के मन में कोई भाव भविष्य के सम्बन्ध में उठते भी हों, परन्तु इनके मन में ऐसी कोई तरंग उत्पन्न नहीं होती जो इनको किसी प्रकार से चिन्तित कर सके। इनको न कुछ जानना है और न कुछ करना।

ऐसों के विषय कहा ही क्या जा सकता है ?

परन्तु एक और दल है। वह उन लोगों का है जो बुद्धिमान् तथा वैज्ञानिक कहलाते हैं। हम पशुओं से उनकी तुलना नहीं कर सकते। वे विचारशील और उद्यमशील हैं। वे नित्यप्रति ज्ञानोन्नति के साधन खोजते रहते हैं। दूसरों का उपकार करना भी उनका ध्येय है, परन्तु वे 'मैं क्या हूँ' की मीमांसा करना व्यर्थ समझते हैं। उनके प्रतिनिधि-रूप में हम इंगलैंड* का कथन उद्धृत कर सकते हैं। उनका आशय है कि सृष्टि के आरम्भ से आज तक मनुष्य व्यर्थ ही 'मैं' क्या हूँ' की जटिल समस्या के सुलझाने में लगे रहे। उन्होंने अपना जीवन और परिश्रम वृथा ही खो दिया। अब उनको ऐसे निरर्थक और अनुपयोगी श्रम से बचकर यह सोचना चाहिये 'मुझे क्या करना चाहिये ?' कहते हैं कि जब हमें अपना स्वरूप समझ नहीं पड़ता तो हम मृगतृष्णा के पीछे दौड़ें ही क्यों ? अब तो हमको यह विचारना चाहिये कि हमारा कर्त्तव्य क्या है ?

इसमें सन्देह नहीं कि अपना स्वरूप जानने का यत्न करना बड़ा कठिन है, परन्तु 'हमारा कर्त्तव्य क्या है' यह जानना क्या कुछ कम कठिन है ? यदि 'मैं' के तत्त्व के विषय में दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में बहुत मतभेद रहा तो 'मेरा कर्त्तव्य क्या है' इस विषय में भी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में कुछ कम मतभेद नहीं रहा। जहाँ 'आत्म-शास्त्र' बड़ा जटिल है, वहाँ 'कर्त्तव्य-शास्त्र'

---

*"The latest Gospel in this world is, know thy work and do it. Know thyself; long enough has that poor self of thine tormented thee, thou wilt never get to 'know' it. I believe ! Think it not thy business, this of knowing thyself, thou art an unknowable individual. Know what thou can't work at and work at it like a Hercules. That will be thy better plan." (Thomas Carlyle's **Past and Present**, BK III, Chapter XI)

भी बहुत-सी उलझनों से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु के स्वरूप का पता नहीं, उसके कर्त्तव्य का क्या पता हो सकता है? कर्त्तव्य का निश्चय तभी होगा जब स्वरूप का निश्चय हो जायगा। जिन्होंने अपने स्वरूप को बिना पहचाने ही अपने कर्त्तव्य को निर्धारित करना चाहा, वे सदा भूल-भुलैयों में पड़े रहे। इसलिये 'मैं' क्या हूँ' प्रश्न बड़ा आवश्यक है। बिना इसकी मीमांसा किये हम कर्त्तव्य-शास्त्र में एक पग नहीं चल सकते। उदाहरण के लिए, यदि शरीर ही का नाम 'मैं' है और शरीर के अन्त के साथ ही इस 'मैं' का भी अन्त होना है तो इस 'मैं' का कर्त्तव्य भी उतना ही क्षणिक होगा जितना क्षणिक यह शरीर है, और हम प्रत्येक कार्य के औचित्य-अनौचित्य का विचार करने के लिए उन्हीं बातों को अपनी दृष्टि में रक्खेंगे जो हमारे इस जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। इससे आगे जाने की कोई उपयोगिता नहीं। कल्पना कीजिये कि मुझे किसी स्थान-विशेष में दो दिन रहना है। अब ऐसी अवस्था में मुझे उन्हीं कामों के करने की आवश्यकता है जो दो दिन से सम्बन्ध रखते हैं। क्या ज़रूरत है कि ऐसा मकान बनाया जाय जो बरसों तक रह सके? क्या आवश्यकता है कि उन व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ा जाय जो दो दिन से अधिक रहेंगे? उन शक्तियों या प्रगतियों के विचार करने की क्या आवश्यकता है जो दो दिन के बाद प्रभाव डालेंगी? परन्तु यदि 'मैं' शरीर से इतर कोई अधिक स्थायी और अधिक विशद पदार्थ है, तो इसका कर्त्तव्य भी उसी प्रकार का मानना पड़ेगा।

जो 'मैं' का अर्थ समझने का यत्न नहीं करते उनका उदाहरण उस मनुष्य के समान है जो किसी जंगल में बड़े वेग से दौड़ रहा है। लोग पूछते हैं, "तुम कौन हो?" वह कहता है, "मैं नहीं जानता।" लोग पूछते हैं, "तुम कहाँ जाओगे?" वह कहता है, "मैं नहीं जानता।" ऐसे पुरुष के विषय में आप क्या कहेंगे? यही न कि वह पागल है? इसलिए जो लोग इस 'मैं' तत्त्व के खोजनेवालों को बुद्धि-शून्य समझते हैं, उनकी बुद्धिमत्ता में यदि सन्देह किया

जाय तो किसी प्रकार अनुचित न होगा।

कार्लायल का यह कहना है कि संसार के आरम्भ से अब तक लोगों ने 'मैं' की खोज में व्यर्थ ही समय खोया, ठीक नहीं है। वस्तुतः

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूँढन गई, रही किनारे बैठ॥

जो गहरा पैठा उसने पता पा लिया। जो किनारे पर बैठ रहा वह कुछ न जान सका। यह बात केवल 'मैं' पर ही लागू नहीं है। जो गहरे नहीं पैठ सकते, वे पत्ते तक को नहीं जान सकते। यह भी ठीक नहीं कि "तुम अज्ञेय पदार्थ हो। क्यों अपने को जानने में व्यर्थ श्रम करते हो?" तत्त्व तो सभी चीज़ों का अन्त में किसी-न-किसी अर्थ में अज्ञेय ही है, परन्तु इस अज्ञेय की मीमांसा भी व्यर्थ और अनुपयोगी नहीं है; कर्त्तव्य की मीमांसा करने के लिए बड़ी आवश्यक है। जिन्होंने इसकी मीमांसा का कष्ट उठाया उनको बड़ा लाभ हुआ। उनकी आन्तरिक शक्ति को वही जानते हैं, दूसरा उस आनन्द को समझ नहीं सकता। मूर्ख लोग यही कहा करते हैं कि "दाँत कटाकट किं कर्त्तव्यम्"? वे उस सूक्ष्म आनन्द को क्या समझें जो किसी गूढ़ समस्या के हल करनेवाले को मिलता है? सोचो और समझो कि यह 'मैं' क्या वस्तु है और यदि तुम अन्त में इस जटिल समस्या को हल न कर सके, तो भी तुम्हारा यह समय व्यर्थ न जायगा। मीमांसा करने का कष्ट उठाने के पश्चात् तुम वही न रहोगे जो उससे पहले थे! यदि मैं किसी बाग़ की सैर करके उसी जगह लौट आऊँ, जहाँ से चला था, तो मैं वही नहीं हूँ जो सैर पर जाने से पहले था। अब मैं अधिक उन्नतिशील हो गया, अब मेरा मस्तिष्क अधिक विकसित हो गया, अब मुझमें ज्ञान की मात्रा अधिक है—यह कुछ कम सन्तोष की बात नहीं है।

□

अध्याय २

मेरा शरीर

'मैं' का सबसे पहला और सबसे अधिक प्रयोग शरीर के सम्बन्ध में होता है, जिस प्रकार हमको अपने होने में कोई सन्देह नहीं होता। 'अहं' और 'मम्' अर्थात् 'मैं' और 'मेरे' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बच्चे को भी यह अनुभव होता है कि 'मैं चल रहा हूँ' या 'मैं बैठा हूँ', 'यह हाथ मेरा है', 'यह कान मेरा है' इत्यादि। जब से हम बातचीत करने के योग्य होते हैं, तभी से अपनी तोतली भाषा में 'मैं' और 'मेरे' का उच्चारण करने लगते हैं और भाषा जानने के पूर्व भी शायद हमारे मन के भीतर 'मैं' और 'मेरे' के अविकसित भाव उठते हों।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि 'मेरा' और 'शरीर' का क्या सम्बन्ध है? सम्बन्ध है तो अवश्य। यदि सम्बन्ध न होता तो 'मेरा' शब्द ही निरर्थक हो जाता। जिस शब्द का समस्त मनुष्य-जाति अनादि काल से अब तक प्रयोग करती रही है, उसके सार्थक होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। यह शब्द अवश्य ही किसी नियत और उपस्थित भाव का वाचक होगा। भूल और भ्रम एक व्यक्ति रख सकता है। समस्त मनुष्य-जाति को यदि भ्रमात्मक मान लें तो 'भ्रम' और 'यथार्थ ज्ञान' की भेदक भित्ति ही गिर जायगी। हम किसको ज्ञान कहेंगे और किसको अज्ञान? इसलिए यह निश्चित है कि मेरा और मेरे शरीर का कोई सम्बन्ध है।

जब हम इस सम्बन्ध पर विचार करते हैं तो दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि 'शरीर' मैं नहीं हूँ। मेरी सत्ता और

शरीर की सत्ता में भेद है। दूसरा यह कि शरीर में मुझे अपना अनुभव होता है। शरीर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिससे और मुझसे कोई सम्बन्ध न हो। अपना स्वरूप पहचानने के लिए इन दोनों बातों को अवश्य ही निरन्तर ध्यान में रखना चाहिये। बहुधा लोग इनमें से एक को छोड़ जाते हैं और इसके कारण अनेक ऐकान्तिक सिद्धान्त प्रचलित हो गए हैं जो अनेक भ्रमों का कारण हुए हैं। अधिक स्पष्ट करने के लिए यों समझिये कि कुछ लोगों का तो ऐसा विचार है कि 'मैं' और 'शरीर' में कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि जब मेरे मन में कुछ विचार उठता है तो वह सदा शरीर के सम्बन्ध में ही होता है। जब मैं सोचता हूँ कि मैं खाता हूँ तो वह एक शारीरिक क्रिया हुई। इस प्रकार जितने भाव मेरे अन्तःकरण में उठते हैं उनका किसी-न-किसी अर्थ में शरीर से ही सम्बन्ध होता है। मैं ऐसी कोई बात सोच ही नहीं सकता जो शरीर से अलग हो। इसलिये शरीर से इतर मेरा अपनी सत्ता मानना व्यर्थ ही है।

इससे भिन्न कुछ लोगों का विचार है कि हमने व्यर्थ ही मान लिया है कि हमसे इतर कोई ऐसी सत्ता है जिसको शरीर कहते हैं। जिसे शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि नामों से पुकारा जाता है, वह आत्मा के ही अपने भाव हैं। हमने अपने में ही शरीर आदि का अभ्यास किया हुआ है। वस्तुतः शरीर तो कोई पदार्थ है ही नहीं। जिस प्रकार मृगतृष्णिका अर्थात् दूर से रेत को जल समझ लेते हैं, वस्तुतः उसमें जल का कोई अंश भी नहीं होता, इसी प्रकार चलने-फिरने, खाने-पीने आदि के शारीरिक व्यापार कोई अपनी सत्ता नहीं रखते। वे स्वप्न के समान असत् रूप हैं।

परन्तु यदि विचार किया जाय तो ये दोनों सिद्धान्त ऐकान्तिक हैं अर्थात् इनमें पूर्ण सचाई नहीं। यह बात मान्य है कि हमारी भी सत्ता है और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने से ये घटनाएँ होती हैं।

आप किसी एक साधारण घटना का मानसिक विश्लेषण

कीजिये—'मैं' खाता हूँ'। कौन खाता है ? क्या शरीर खा सकता है ? नहीं। यदि शरीर ही खानेवाला होता तो मृत शरीर भी खा सकता। परन्तु ऐसा नहीं होता। फिर क्या शरीर से इतर जो आत्मा है वह खाता है ?कदापि नहीं। क्योंकि खाना तो शारीरिक क्रिया है। यदि शरीर से अलग आत्मा कोई अ-जड़ पदार्थ है तो वह जड़ भोजन को कैसे खा सकता है ? भूख किसको लगती है ? 'भूख' का जो भाव है उसपर विचार कीजिये। बहुत-से लोग समझते हैं कि शरीर में भोजन के न रहने का नाम भूख है, परन्तु यह भारी भूल है। शरीर में भोजन के कम हो जाने या न होने का नाम भूख नहीं है। किन्तु इसी भोजन के कम हो जाने या न रहने के 'अनुभव' का नाम भूख है। बहुत-से लोग हैं जिनको भूख लगती ही नहीं। ऐसों को रोगी कहा जाता है। यदि भोजन का अंश रहे और भूख न लगे तो उसे रोगी नहीं कहते। रोगी वह है जिसके शरीर में भोजन का अंश तो रहा नहीं जिससे उसको शक्ति मिलती, किन्तु वह अभाव को अनुभव नहीं करता। इस प्रकार 'भूख' की अनुभूति में दो भाग आते हैं—एक तो भोजन का शरीर में न रहना जो शारीरिक क्रिया है, दूसरा इसका अनुभव जो आत्मिक क्रिया है। भूख कल्पना या अभ्यासमात्र नहीं है।

इसी प्रकार यदि किसी के पेट में पीड़ा हो रही है तो वह केवल शारीरिक घटना नहीं है। यदि किसी डॉक्टर से पूछा जाय कि इसके पेट में क्यों पीड़ा होती है तो वह साधारणतया शारीरिक कल्पना ही बताएगा, अर्थात् अमुक रस कम हो गया अथवा अमुक पदार्थ आँत के अमुक भाग में अड़ गया। यह अधूरा उत्तर है। माना कि अमुक वस्तु अँतड़ी में अड़ गई, फिर भी प्रश्न यह है कि पीड़ा क्यों हुई ? केवल किसी वस्तु के अड़ जाने का नाम तो पीड़ा है नहीं। पीड़ा तो इससे अधिक एक घटना है। यह सम्भव है कि वही उसी प्रकार से अँतड़ी में अड़ जाय और पीड़ा न हो। इससे सिद्ध हुआ कि पीड़ा शारीरिक घटना के अतिरिक्त आत्मिक घटना भी है। यदि शरीर न होता तो पीड़ा न होती, और यदि केवल

शरीर होता तो भी पीड़ा न होती, और यदि शरीर भी होता और आत्मा भी होता और इन दोनों में कोई सम्बन्ध न होता तो भी पीड़ा न होती।

इससे प्रतीत होता है कि (१) 'शरीर' कोई वस्तु है। (२) 'हम' कोई वस्तु है। (३) 'हमारे' और 'शरीर' के स्वरूप में कोई ऐसी बात अवश्य है जिससे हम दोनों में कुछ सम्बन्ध स्थापित हो सके।

'हम' या 'मैं' के लिए इस पुस्तक में आगे को 'जीव' या 'जीवात्मा' शब्द का प्रयोग किया जायगा क्योंकि यह एक बहु-प्रचलित शब्द है।

अध्याय ३

मतभेद

विचारशील पुरुषों में परोक्ष विषयों में मतभेद होना एक स्वाभाविक-सी बात है। जो वस्तु आँख से देखी और हाथ से छुई जा सकती है, उसको सभी मान लेते हैं। मेरे एक नाक है और दो कान हैं। इस विषय में कोई मतभेद नहीं। कोई नहीं कहेगा कि मेरे दो या अधिक नाकें हैं, या दो से कम या अधिक कान हैं। क्योंकि यह प्रत्यक्ष विषय है। प्रत्यक्ष में भी स्थूल और सूक्ष्म में मतभेद हो सकता है। आँख और आँख का भेद है। एक आँख जो देख सकती है दूसरी नहीं देख सकती। जो नंगी आँख नहीं देख सकती वह उपनेत्र या यन्त्रों द्वारा दिखाई दे जाती है। जो बच्चे की आँख नहीं देख सकती उसको आपकी आँख देख लेती है। इसलिये तत्त्व के खोजी लोगों में प्रत्यक्ष विषयों में भी मतभेद हो जाता है। यह निश्चित करना कठिन होता है कि कौन वस्तु प्रत्यक्ष का विषय है और कौन वस्तु नहीं। दो डॉक्टर एक ही रोगी के रुधिर की परीक्षा करते हैं और भिन्न-भिन्न परिणामों को घोषित करते हैं। एक कहता है कि इसके रुधिर में क्षय रोग के कीटाणु हैं, दूसरा कहता है, नहीं हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि कीटाणु प्रत्यक्ष का विषय है या नहीं ? यन्त्र द्वारा दिखाई पड़ने के कारण प्रत्यक्ष का विषय अवश्य है, परन्तु यदि प्रत्यक्ष का विषय है तो मतभेद कैसा ? प्रत्यक्षं किं प्रमाणम् ?

ये तो प्रत्यक्ष विषयों की उलझनें हैं, परन्तु जो वस्तुए इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं, उनके विषय में क्या कहा

जाय ? उसमें तो मतभेद और भी अधिक होगा।

'मैं' प्रत्यक्ष विषय है या परोक्ष ? यह एक जटिल प्रश्न है। कैसे आश्चर्य का विषय है कि मैं संसार की अनेकानेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष करूँ और अपना प्रत्यक्ष न कर सकूँ ! आँख जगत् को देखती है, परन्तु स्वयं अपने को नहीं देख सकती। जब मैं आँख को देखता ही नहीं तो उसके अस्तित्व पर विश्वास ही क्यों करूँ ? क्यों मानूँ कि मेरे आँख है ? इसी प्रकार यदि 'मैं' का प्रत्यक्ष होता ही नहीं तो 'मैं' का अस्तित्व ही क्यों माना जाय ? परन्तु क्या कोई ऐसा है जो 'मैं' के अस्तित्व को स्वीकार न करे ? प्रत्यक्ष न होते हुए भी अपने को तो सभी मानते हैं। उन्मत्तों की बात जाने दीजिये, वे तो उन्मत्त ही ठहरे। उनके मानने पर अपने विश्वासों को क्यों आधारित करें ? परन्तु जिसका मस्तिष्क ठीक है, वे चाहे मूर्ख हों चाहे दार्शनिक, अपने 'मैं' को अवश्य ही मानते हैं। यही नहीं, संसार की प्रत्येक वस्तु अपने भाव को पुकार-पुकार-कर घोषित कर रही है। इस सम्बन्ध में न्यायदर्शन के दो सूत्र अनुपयुक्त न होंगे।

शून्यवाद का पक्ष लेते हुए न्यायदर्शन में प्रश्न उठाया गया है कि—

"सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥"

(न्यायदर्शन ४।१।३७)

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तुओं का अभाव है, इसलिए सब अभाव ही है। घोड़े में गायपन का अभाव है और गाय में घोड़ेपन का। इसलिये हर जगह अभाव-ही-अभाव दिखाई देता है। सब अभाव ही है।

इसका उत्तर गौतम जी देते हैं—

"न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥"

(न्यायदर्शन ४।१।३८)

अर्थात् भाव तो स्वभाव अर्थात् अपने भाव से ही सिद्ध है। उससे 'सबका अभाव' सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने निज

के भाव से स्थित है। घोड़े का घोड़ापन गाय के गायपन के ऊपर स्थित नहीं, किन्तु स्वयं घोड़ेपन पर स्थित है। इसी प्रकार यदि मेरी कलम या मेरी मेज़ या मेरी चारपाई बोल सकती तो वह यही कहती कि चाहे अन्य कोई वस्तु हो या न हो, मैं अवश्य हूँ। अन्य वस्तुओं के भाव में सन्देह हो सकता है, परन्तु अपने भाव में नहीं। जो बोल या विचार सकते हैं वे तो अपने अस्तित्व से इन्कार कर ही नहीं सकते। कौन कह सकता है कि 'मैं नहीं हूँ'? और यदि कोई कहे भी तो लोग उसको उन्मत्त के सिवाय क्या कहेंगे? कल्पना कीजिये कि एक पुरुष मेरे द्वार पर आकर पुकारता है। मेरा नौकर कहता है कि मैं घर पर नहीं हूँ तो शायद वह उसका विश्वास करके चला जायगा। परन्तु यदि मैं घर के भीतर से कहने लगूं कि 'मैं नहीं हूँ' तो मेरा कौन विश्वास करेगा? वह कहेगा न कि जब तुम हो ही नहीं तो बोलते कैसे हो? यह एक साधारण-सी हँसी की बात प्रतीत होती है, परन्तु इसके भीतर एक गहरी सचाई है जिसकी ओर गौतम मुनि ने संकेत किया है। प्रत्येक भाव स्वभाव से सिद्ध है। मैं स्वभाव से सिद्ध हूँ। मैं अस्वीकार नहीं कर सकता कि मैं नहीं हूँ। मैं कैसे कह सकता हूँ कि मैं नहीं हूँ? यदि कहूँ भी तो इस बात का न मुझको स्वयं विश्वास होता है न अन्य किसी को। सबकी ऐसी प्रवृत्ति क्यों है? इसलिए कि सच बात यही है कि 'मैं हूँ'।

अच्छा फिर 'मैं' क्या हूँ? इस बात में मतभेद है। परोक्ष विषय होते हुए भी 'मैं' अपने अस्तित्व को उसी प्रकार मानता हूँ जैसे 'आँख' अपने को न देखती हुई भी अपने अस्तित्व को रखती है। परन्तु जब मैं अपने स्वरूप को जानना चाहता हूँ और उसका विश्लेषण करता हूँ तो यह बात उतनी स्पष्ट नहीं होती जितनी अपने अस्तित्व की।

आँख स्वयं अपने को नहीं देख सकती। उसके लिए दर्पण चाहिये। यह दर्पण एक बाहरी चीज़ है। इसलिए जैसा दर्पण होगा वैसा ही आँख का स्वरूप दिखाई देगा। किसी दर्पण में

आँख छोटी दिखाई देगी, किसी में बड़ी। किसी में धुँधला दिखाई देगा, किसी में साफ। किसी में बारीक नसें छुप जाएँगी और किसी में स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी। इसलिए जब आँख अपने स्वरूप को देखने के लिए दर्पण को साधन बनाएगी तो उसके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न ही दिखाई पड़ेंगे और सम्भव है कि दो देखनेवाले किसी विशेष बात पर एकमत न हो सकें। फिर भी एक बात याद रखनी चाहिये, हम दर्पण में जिस आँख को देखेंगे वह बाहरी आँख होगी। असली आँख जो इस दिखाई देनेवाले गोलक के भीतर है किसी दर्पण में दिखाई नहीं दे सकती। उसका तो केवल अनुभव होता है। वह आँख का विषय नहीं, इसलिए परोक्ष है।

इसी प्रकार यद्यपि 'मैं' की सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं, तथापि 'मैं' के स्वरूप में अनेक मतभेद हैं। दार्शनिक-मण्डल के शिरोमणि श्री शंकराचार्य जी ने अपने शारीरक सूत्रों के भाष्य के आरम्भ में इन मतभेदों का इस प्रकार वर्णन किया है (देखो पहले सूत्र के भाष्य का अन्तिम भाग)—

(१) देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।
(२) इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे।
(३) मन इत्यन्ये।
(४) विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके।
(५) शून्यमित्यपरे।
(६) अस्ति देहादि व्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता, भोक्तेत्यपरे।
(७) भोक्तैव केवलं न कर्त्तत्येके।
(८) अस्ति तद् व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति केचित्।
(९) आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।

अर्थात्

(१) प्राकृत जन (जो केवल जगत् को देखकर ही अपने सिद्धान्त बनाते हैं और जो किसी शास्त्र पर श्रद्धा नहीं

रखते) तथा लौकायतिक लोग जो केवल चार तत्त्वों को ही मानते हैं, आत्मा को अलग पदार्थ नहीं मानते। उनका विचार है कि इस शरीर में अग्नि, जल, पृथिवी और वायु के संयोग से ही चेतनता उत्पन्न हो जाती है और इसी चेतनतायुक्त शरीर में 'मैं' का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(२) कुछ लोग मानते हैं कि चेतन इन्द्रियों का ही नाम आत्मा है। इन्द्रियों से अलग आत्मा कोई नहीं है।

(३) कुछ लोग मन अर्थात् सोचने की इन्द्रिय को ही आत्मा मानते हैं।

(४) कुछ लोग क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। आत्मा कोई स्थायी वस्तु नहीं। यह बौद्धों का योगाचार नामी सम्प्रदाय है।

(५) कुछ लोगों का मत है कि आत्मा शून्य है क्योंकि सुषुप्ति में किसी बात का भान नहीं होता। जागने पर 'मैं' का भाव फिर उठ आता है। वह बौद्धों का माध्यमिक नामी सम्प्रदाय है।

(६) कुछ का मत है कि आत्मा शरीर से भिन्न एक पदार्थ है जो संसारी तथा कर्त्ता और भोक्ता है।

(७) कुछ लोग ऊपर के मत से कुछ भिन्न हैं। वे इसको भोक्ता तो मानते हैं परन्तु कर्त्ता नहीं मानते।

(८) कुछ लोगों का मत है कि एक 'मैं' हूँ और मुझसे अलग एक और शक्ति है जिसको ईश्वर कहते हैं। यह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

(९) कुछ कहते हैं कि वह भोक्ता का भी आत्मा है।

(१०) इनमें रत्नप्रभा व्याख्या के कर्त्ता श्री गोविन्द के शब्दों में दशवाँ शंकराचार्य का मत भी मिला देना चाहिये—

जीवो ब्रह्मैव, आत्मत्वात्, ब्रह्मवत् इत्यादि युक्तेः।

अर्थात् जीव ब्रह्म ही है क्योंकि व्यापक है ब्रह्म के समान।

श्री शंकराचार्य जी ने जीव-सम्बन्धी सिद्धान्तों का इतनी उत्तमत्ता से वर्गीकरण किया है कि छोटी-छोटी बातों को छोड़कर मौलिक सिद्धान्तों के, किसी देश या युग में, इतने ही वर्ग हो सकते हैं। आजकल के पश्चिमी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूपों अथवा भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रतिपादन किया है। शङ्कर का वर्गीकरण न केवल उनके ही समय से सम्बन्ध रखता है, अपितु किसी युग में जीव के विषय में यदि कोई सिद्धान्त हो सकते हैं तो उनकी इतनी ही कोटियाँ बन सकती हैं। स्थूल दृष्टि से इतने प्रश्न उठते हैं—

(१) जिसको हम शरीर कहते हैं अर्थात् यह हड्डी, रुधिर और मांस का पिंड जिसमें आँख, कान, नाक, आदि इन्द्रियाँ और मन आदि शामिल हैं, क्या इसी का नाम जीव है या इससे भिन्न स्वतःसिद्ध कोई और पदार्थ है जिसको जीव कहते हैं और जो इस शरीर के बनने पर शरीर में आ गया?

(२) यदि जीव शरीर से भिन्न एक अलग सत्ता है तो क्या उसका आरम्भ भी शरीर के आरम्भ के ही साथ होता है? या शरीर के आरम्भ से पहले भी यह कोई अलग सत्ता थी जो शरीर के बनने पर शरीर में आ गई?

(३) यदि शरीर के पहले भी यह सत्ता विद्यमान न थी तो इसका क्या स्वरूप था? क्या यह शरीर से अलग रह सकती है? यदि नहीं रह सकती तो शरीर के अलग और उसके आरम्भ से पहले भी उसकी विद्यमानता क्यों मानी जाय?

(४) यदि रह सकती है तो इसको शरीर में आने की क्यों आवश्यकता पड़ी? यदि शरीर बनने से पहले वह बिना शरीर के रह सकती थी और उससे अलग थी तो अब भी क्यों नहीं रहती? अब शरीर में आने से क्या लाभ?

(५) यदि जीव स्वतन्त्र सत्ता है और शरीर अलग, तो जीव और शरीर का क्या सम्बन्ध है? क्या शरीर जीव से अलग रह सकता है? क्या शरीर का आधार जीव है या जीव का आधार शरीर?

(६) यदि जीव शरीर से अलग एक सत्ता है तो क्या शरीर के नष्ट होने पर जीव नष्ट हो जायगा या विद्यमान रहेगा ? यदि रहेगा तो उसकी क्या दशा होगी ? किस-किस परिस्थिति में रहेगा और शरीरस्थ अवस्था से उसकी उस अवस्था में क्या भेद होगा ?

इन प्रश्नों के अन्तर्गत सैकड़ों छोटे-मोटे प्रश्न हो सकते हैं जो प्रसंग के अनुसार यथासमय वर्णित किये जाएँगे।

□

अध्याय ४

आरम्भ-बिन्दु

जीव के विषय में अनुसन्धान की इच्छा उत्पन्न होने पर एक बड़ा भारी प्रश्न उठ खड़ा होता है जिसका सन्तोषजनक उत्तर न मिलने के कारण ही लोग इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को छोड़ देते हैं। यह प्रश्न तो प्राय: सभी के मन में उठता है कि 'मैं क्या हूँ ?' परन्तु जब एक बार जानने की इच्छा उत्पन्न हो गई तो जिस प्रकार भोजन न मिलने पर भूख मारी जाती है, इसी प्रकार ज्ञान का साधन उपलब्ध न होने पर जिज्ञासा भी मारी जाती है। जिज्ञासा का भी वनस्पति के समान बीज होता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष का बीज पहले अंकुर देता है और खाद पाने पर बढ़ जाता है, इसी प्रकार जिज्ञासा भी अनुकूल परिस्थिति में बढ़ती और प्रतिकूल परिस्थिति में नष्ट हो जाती है। जिज्ञासा (जानने की इच्छा) बड़ी चीज़ है। इसके रहने से अच्छे-अच्छे परिणाम निकल सकते हैं और इसके नष्ट हो जाने से मनुष्य पत्थर के समान हो जाता है। यह जो संसार में करोड़ों मनुष्य जिज्ञासा से शून्य पाए जाते हैं उनका कारण यही है कि उनमें जिज्ञासा का बीज तो था परन्तु वह बिना खाद के मुरझा गया और अब उनको किसी बात की खोज करने की कोई भी इच्छा नहीं होती।

अस्तु, जिस प्रश्न का हमने ऊपर उल्लेख किया है वह क्या है? प्रश्न यह है कि आरम्भ कहाँ से किया जाय? आरम्भ ऐसे स्थान से करना चाहिये जो स्वतन्त्र हो, और जिसके मानने में किसी को इन्कार न हो।

प्राय: प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आरम्भ किया करते हैं, परन्तु दार्शनिकों में प्रत्यक्ष के विषय में भी मतभेद है। जिसको हम प्रत्यक्ष कहते हैं उसको बहुत-से दार्शनिक प्रत्यक्ष नहीं कहते। कुछ को तो प्रत्यक्ष आदि के प्रमाण होने से भी इन्कार है। जिन बातों में साधारण लोग एकमत हो जाते हैं, दार्शनिकों को उनके मानने में भी आपत्ति होती है। उदाहरण के लिए मेरे सामने मेज़ रक्खी है। मैं उसको देख रहा हूं, या उसपर बैठकर लिख रहा हूँ। दार्शनिकों को छोड़कर संसार के सभी मनुष्य कहेंगे 'ठीक है, मेज़ दिखाई देती है। मेज़ अवश्य है।' यदि कोई कहे कि 'मेज़ कहाँ है?' या 'मेज़ नहीं है' तो सब कह उठेंगे, 'कैसे कहते हो कि मेज नहीं है? है तो! क्या दीखती नहीं? जिसको आँख से देख रहे हो उससे कैसे इन्कार कर सकते हो? बड़े हठी हो! क्या आँख में धूल डालना चाहते हो?'

परन्तु दार्शनिकों की बात निराली है। कुछ लोगों का विचार तो ऐसा है कि दार्शनिक वह है जो साधारण पुरुषों से भिन्न देखता, भिन्न सुनता और भिन्न सोचता हो। वह केवल इसलिए मेज़ को मानने के लिए तैयार नहीं कि आँख से दिखाई देती है— 'जिस चीज़ को आँख देखे उसे मैं कैसे मान लूं? मैं आँख तो हूँ नहीं। क्या देवदत्त द्वारा देखी हुई चीज़ को यज्ञदत्त को मान लेना चाहिये? यह भी मजे को बात है कि देखे कोई और, और माने कोई और! देखा आँख ने, और मानूं मैं! जो माननेवाला है वह देखता नहीं और जो देखता है वह माननेवाला नहीं। यदि आँख देखती है तो आँख ही माना भी करे। मैं तो तभी मानूंगा जब मैं स्वयं देख लूंगा। इसीलिए केवल आँख की साक्षी के भरोसे पर मैं मेज़ को मानने के लिए तैयार नहीं।'

इस प्रकार दार्शनिकों के दो भारी दल हैं और उनमें मौलिक मतभेद हैं। एक वे हैं जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आरम्भ करते हैं। दूसरे वे हैं जिनका कहना है कि हम स्वयं अपने आत्मा से आरम्भ करते हैं। अनुभव हमारा आरम्भ-बिन्दु (starting-

point) है। हम किसी इन्द्रिय आदि पर विश्वास नहीं रखते। कम-से-कम हम उनके पीछे नहीं दौड़ते।

पहली कोटि के वे लोग हैं जो आज संसार के सभ्य देशों की प्रयोगशालाओं में बैठे हुए प्राकृतिक नियमों का अन्वेषण और प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक घटनाओं का विश्लेषण करने में दत्तचित्त हैं। ये वे हैं जिन्होंने प्रकृति देवी के चरणों को चूमकर और उसकी निरन्तर आराधना करके अपनी वैज्ञानिक दक्षता से संसार में एक नई मानवी सृष्टि रच दी। पौराणिक गाथा है कि विश्वामित्र ने देवताओं के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर एक नई सृष्टि का निर्माण कर दिया था। इस गाथा में कितनी सचाई है यह कहना तो कठिन है, परन्तु यदि आज तक के वैज्ञानिकों के समान विश्वामित्र भी कोई बड़ा वैज्ञानिक रहा होगा तो उसने अवश्य ही प्राकृतिक नियमों के अध्ययन की सहायता से नई सृष्टि रच दी होगी। विज्ञान की आधारशिला प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही तो है! यदि आँख, कान, नाक आदि पर विश्वास न किया जाय तो हम ज्ञान-मार्ग में एक पग भी नहीं बढ़ा सकते। यदि शास्त्र पढ़ेंगे तो आँख से, यदि गुरु का उपदेश सुनेंगे तो कान से, यदि उसपर विचार करेंगे तो मन से। किस दार्शनिक दल का कौन बड़ा विद्वान् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को धता बताकर कुछ भी आगे बढ़ सका, यह कहना दुष्कर है। कल्पना कीजिये कि एक पुरुष उपनिषद् में पढ़ता है 'नेह नानास्ति किंचन' (अर्थात् इस संसार में बहुत्व है ही नहीं)। अब हम पूछते हैं कि यदि उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं है तो उसने कैसे जाना कि उसके सामने जो पुस्तक रक्खी हुई है वह पुस्तक ही है, भैंस नहीं? या उसने 'नेह नानास्ति' इत्यादि अक्षर ही लिखे हुए हैं, अन्य कुछ नहीं?

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक डीकार्टे (Descarte) का इस सम्बन्ध का लेख पढ़ने योग्य है—

"अब तक मैं जिन चीज़ों को सत्य और विश्वसनीय मानता हूँ उनकी उपलब्धि मुझे इन्द्रियों से वा उनके द्वारा हुई है। कभी-

कभी इन्द्रियों ने मुझे धोखा दिया है और जो हमको एक बार धोखा दे उसका पूर्ण विश्वास करना बुद्धिमत्ता नहीं है। परन्तु यद्यपि उन बातों के विषय में जो इन्द्रियगोचर नहीं या दूर हैं इन्द्रियाँ कभी-कभी धोखा दे बैठती हैं, तथापि बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनपर हमको अविश्वास नहीं करना चाहिये चाहे उनका ज्ञान हमको इन्द्रियों के द्वारा ही हुआ हो। उदाहरण के लिए, मैं यहाँ हूँ, आग के पास बैठा हूँ, अङ्गरखा पहने हूँ, मेरे हाथ में काग़ज़ है, इत्यादि-इत्यादि। मैं कैसे इन्कार कर सकता हूँ कि ये मेरे हाथ नहीं हैं वा यह मेरा शरीर नहीं है? यदि ऐसा करूँ तो उन पागलों के समान होऊँगा जिनके मस्तिष्क बिगड़ गए हैं और जो दरिद्र होते हुए भी अपने को बादशाह बताते और बिल्कुल नंगे होते हुए भी अपने को कलाबत्तू के काम के वस्त्रों से आच्छादित समझते हैं; या, जो अपने को घड़ा समझते या अपने शरीर को काँच का बना मानते हैं, पागल हैं और यदि मैं भी ऐसा विश्वास करूँ तो मैं भी पागल कहलाऊँ। तथापि, मुझे इस बात का विचार करना है कि मैं एक मनुष्य हूँ और जब सो जाता हूँ और स्वप्न देखता हूँ तो वैसी या उनसे भी कम विश्वसनीय चीज़ें देखता हूँ जो ये उन्मत्त लोग जाग्रत्-अवस्था में देखते हैं।"*

---

*"All that I have hitherto received as most true and assured I have learned from the senses, or by means of the senses. But I have sometimes found that these senses were deceivers, and it is the part of prudence never to trust entirely those who have once deceived us. But although the senses may deceive us sometimes in regard to things which are scarcely perceptible and very distant, yet there are many other things of which we cannot entertain a reasonable doubt, although we know them by means of the senses; for example, that I am here, seated by the fire, in my dressing gown, holding this paper in my hands,

दूसरे दल के लोग स्व-अनुभववादी हैं। वे इन्द्रियों के बताए हुए ज्ञान को ज्ञान ही नहीं मानते। उनका कहना है कि हम उसी बात को मानेंगे जिसका हमें स्वयं अनुभव हो चुका हो। इन्द्रियाँ धोखा दे सकती हैं और यदि एक बार भी धोखा दे दिया तो क्या ठीक है कि नियत समय पर धोखा न देंगी? क्या हम नहीं देखते कि कभी-कभी इन धोखेबाज़ आँखों की बदौलत हम रेत को जल समझकर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहते हैं? क्या कभी-कभी हमको रस्सी साँप बनकर डराती नहीं? डीकार्टे भी तो मानता है कि कभी-कभी हमको स्वप्न में वे बातें दिखाई देती हैं जो पागलपन के अतिरिक्त कुछ नहीं—

'परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ता है कि जिन चीज़ों को हम स्वप्न में देखते हैं वे उन चित्रों के समान हैं जो सच्ची चीज़ों के बनाये जा सकते हैं। इसलिये आँखें, सिर, हाथ, शरीर, यह सब कल्पित नहीं किन्तु वास्तविक सत्ता वाले हैं।'*

---

and other things of such a nature. And how can I deny that these hands and this body are mine? Only by imitating those crazy people, whose brains are so disturbed and confused by the black vapours of the biles that they constantly affirm that they are kings, while in fact they are very poor, that they are clothed in gold and purple, while they are quite naked; or who imagine themselves to be pitchers, or to have glass bodies. But what! these are fools, and I should be no less extravagant if I should follow their example. Nevertheless, I have to consider that I am a man and that I fall asleep, and in my dreams imagine the same things, or even sometimes things less probable than these crazy people do while they are awake."

*"Nevertheless, we must at a least admit that the things which we imagine in sleep are like pictures and

परन्तु एक स्व-अनुभववादी कह सकता है कि इसी बात का क्या प्रमाण है कि स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ असली वस्तुओं के चित्रों के समान हैं? यह भी तो कल्पित बात ही है कि स्वप्न में देखी वस्तुएँ असली वस्तुओं के चित्र के समान हैं। इससे उलटा यही क्यों न माना जाय कि जाग्रत्-अवस्था में देखी हुई वस्तुएँ स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं के समान कल्पित और मिथ्या हैं? कुछ लोग जाग्रत्-अवस्था को स्वप्न की तराज़ू में तोलते हैं और कुछ स्वप्न-अवस्था को जाग्रत् की तराज़ू से। तराज़ू कौन-सी ठीक है? वस्तुतः यही तो जटिल समस्या है जिसे हल करना चाहिये। दो आदमियों की घड़ियाँ भिन्न-भिन्न समय बताती हैं। एक कहता है 'मेरी घड़ी ठीक है, तुम्हारी ग़लत।' दूसरा कहता है 'नहीं-नहीं, मेरी ठीक है तुम्हारी ग़लत।' दोनों तो ठीक हो नहीं सकतीं। दोनों ग़लत भी हो सकती हैं। इसलिये एक तीसरा आकर यह कहता है कि 'न तुम्हारी घड़ी ठीक, न तुम्हारी, दोनों ग़लत हैं।'

जब प्रत्यक्षादि-प्रमाण-वादियों और स्व-अनुभव-वादियों में झगड़ा होता है और जब जाग्रत्-वादी और स्वप्नवादी अपने-अपने मत का पोषण और दूसरे का खंडन करते हैं तो शून्यवादी या अज्ञेयवादी धड़ाम से आ कूदते हैं और कहते हैं, 'चलो हटो, क्यों व्यर्थ का आलाप कर रहे हो? न स्वप्न में देखी हुई वस्तुएँ ही ठीक हैं, न जागरित में देखी हुईं। न इनका ठीक, न उनका। इसलिये व्यर्थ का टंटा ही क्यों करना? यहाँ कुछ भी नित्य नहीं। रहा अनित्य···सो अनित्य के लिए तो 'होना' शब्द का प्रयोग करना ही भाषा का दुरुपयोग है। इसलिये सब शून्य

---

paintings, which can only be formed after the likeness of something real and veritable. Accordingly, these things in general namely, eyes, hands, body—are not imaginary but real and existent."

के अतिरिक्त कुछ है भी, तो हम उसको जान सकते; असम्भव के पीछे दौड़ना बुद्धिमत्ता का काम नहीं।"

अच्छा, यदि हम इन्हीं की बात मानें और इस बात का विचार ही छोड़ दें तो क्या काम चल सकता है? हमारे मन में ये प्रश्न उठते ही क्यों हैं? क्या हमारे बस की बात है कि इन प्रश्नों को उठने न दें? यों तो संसार में लाखों मनुष्य हैं जो खाते-पीते और मौज उड़ाते हैं। उनको ये बातें कष्ट ही नहीं पहुँचातीं, अपितु उनमें भी इसी प्रकार के कुछ-न-कुछ प्रश्न तो पाए ही जाते हैं। जंगली जातियाँ भी सोचती हैं कि हम क्या हैं? जीवन क्या है? मौत क्या है? मौत के बाद क्या होगा? हम अमुक कर्म करेंगे तो क्या फल होगा? इत्यादि।

इसलिए इन प्रश्नों को हल करने का यत्न करना ही चाहिये। बिना प्रयत्न किये काम न चलेगा और प्रयत्न करने पर कुछ-न-कुछ फल निकलेगा ही। यदि कुछ फल न भी निकला, तो भी सन्तोष तो होगा!

अच्छा तो बताओ, आँख-कान आदि इन्द्रियों का विश्वास करके उन्हीं से आरम्भ करोगे? या स्व-अनुभव से? या शून्य से? या इन तीनों दलों में कुछ समन्वय भी सम्भव है?

हमारा विचार तो यह है कि कहीं से आरम्भ कर दो, पहुँचोगे उसी स्थान पर! वस्तुतः ये दल इतने भिन्न नहीं हैं जितने समझे जाते हैं। प्रत्येक दल में सचाई है, परन्तु आधी सचाई। पूरी सचाई तब होगी जब इन सब का समन्वय हो जाय। जो जो लोग एक पक्ष को लेकर ही चल पड़ते हैं वे किसी सन्तोषजनक परिणाम पर नहीं पहुँच सकते।

अच्छा, हम एक प्रश्न करते हैं। जो पुरुष आँख के देखे हुए का विश्वास नहीं करता उससे हम पूछते हैं कि आँख से कौन देखता है? आँख स्वयं तो देखती नहीं। जब कभी आप किसी ध्यान में होते हैं तो आँख के सामने रक्खी हुई चीज़ भी क्या बे-देखी हुई चीज़ के समान नहीं हो जाती? आँख से भी तो आप स्वयं

ही देखते हैं ! इसलिये यह कहना कि आँख-कान हमको धोखा देते हैं, स्वयं अपने को ही धोखेबाज़ बताना है। आँखें हमारे देखने का साधन अवश्य हैं, परन्तु वे स्वयं देखती नहीं। देखते तो हमीं हैं। इसी प्रकार जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाएँ भी तो स्वयं हमारे अनुभव हैं। जागते भी हमीं हैं और स्वप्न भी हमीं देखते हैं। यह तो हो ही नहीं सकता कि स्वप्न तो हम देखें और जागे कोई और, या जागें हम और स्वप्न कोई और देखे। जो लोग प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर विश्वास रखते हैं, वे उनको इसलिये ठीक मानते हैं कि ये हमारे निजी अनुभव हैं। इन्द्रियाँ हमारी हैं, किसी ग़ैर की नहीं, इसलिये इनका विश्वास करना ही पड़ता है। जो पुरुष शून्यवादी या स्व-अनुभव-वादी हैं, वे इन इन्द्रियों को पूर्णरूप से अलग नहीं कर सकते और न इनको नेत्रहीन, कर्णहीन, नासिकाहीन बनना ही पसंद है। बड़े-से-बड़ा स्व-अनुभव-वादी यदि अन्धा हो जाता है तो अपने को सौभाग्य-शाली नहीं समझता, और चंगा होने के लिए डॉक्टरों का द्वार खटखटाता है। वस्तुतः जब तक हम किसी सत्ता पर विश्वास न न करें, उस समय तक हम किसी प्रकार का व्यापार कर ही नहीं सकते, और ऐसा कोई पुरुष है ही नहीं जिसको किसी सत्ता पर विश्वास न हो। जो यह कहता है कि कुछ भी नहीं है वह भी 'है' शब्द का प्रयोग करता है। यदि कुछ न होता तो 'होना' क्रिया का भी अस्तित्व न होता।

अच्छा बताइये, कहाँ से आरम्भ किया जाय ? इस अध्याय के आरम्भ में भी यही प्रश्न उठाया गया था और इतने वाद-विवाद के पश्चात् भी प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। क्या कोल्हू के बैल के समान इतनी तेज़ चाल पर भी वहीं-के-वहीं रहेंगे ?

नहीं, यह बात नहीं। आरम्भ-बिन्दु तो मिल गया। चाहे उसको प्रत्यक्ष-आदि प्रमाण कहो, चाहे स्व-अनुभव। चाहे आँख, कान, नाक, खाल और जीभ नामी इन्द्रियों से आरम्भ करो, चाहे

अन्तरात्मा के अनुभव से। अनुभव चाहे भीतरी चाहे बाहरी, है तो यह हमारा ही अनुभव और अनुसन्धान करने में हम इनमें से किसी को भी ध्यान से बहिष्कृत नहीं कर सकते। हमारा मुख्य प्रश्न तो यही है कि वह कौन-सी सत्ता है जो बाहरी कारणों से तो अमुक प्रकार का अनुभव करती है और भीतरी कारणों से अमुक प्रकार का।

डीकार्टे ने इस अनुसन्धान के लिए कुछ नियम निर्धारित किये थे। वे इतने अच्छे हैं कि उनका यहाँ देना अवश्य लाभप्रद होगा—

पहला नियम—किसी ऐसी बात को सच न मानूँगा जिसका मुझे स्पष्ट ज्ञान न हो; जिसके मानने में कुछ भी सन्देह हो उसको जल्दी या पक्षपात के कारण कभी अपने मन्तव्यों में सम्मिलित न करूँगा।

दूसरा नियम—जिस जटिल प्रश्न की मीमांसा करनी है उसका यथाशक्ति विश्लेषण करके उसको कई वर्गों में विभाजित करूँगा।

तीसरा नियम—सरलतम बातों से आरम्भ करूँगा जिससे जटिल समस्या के हल करने में उत्तरोत्तर उन्नति हो सके।

चौथा नियम—जिन बातों पर विचार करना है उनकी प्रासंगिक घटनाओं में से किसी को छोड़ूँगा नहीं। ऐसा यत्न करूँगा कि सभी बातों का समावेश हो सके।*

---

*"The first rule was, never to receive anything as a truth which I did not clearly know to be such; that is, to avoid haste and prejudice, and not to comprehend anything more in my judgements than that which should present itself as clearly and so distinctly to my mind that I should have no occasion to entertain a doubt of it. The second rule was, to divide every difficulty which should examine into as many parts as possible, or as might be required for solving it. The third rule was, to conduct

मैं समझता हूँ कि डीकार्टे के ये नियम प्रत्येक अनुसन्धान के लिए उपयुक्त हैं। यद्यपि इनमें से किसी का भी ठीक-ठीक उपयोग करना सुगम नहीं है, तथापि इनकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। सम्भव है कि आँख उसी परिणाम पर न पहुँचे जिसपर डीकार्टे पहुँचा, परन्तु इनसे अच्छे नियम बनाना भी कठिन है।

इसलिए हम भी कुछ-कुछ इसी रीति का अनुसरण करना अच्छा समझते हैं। यह हमको अधिकार है कि अपनी बारी में हम इनका अपने ढंग से प्रयोग करें। लकीर का फ़कीर बनकर डीकार्टे के पग पर पग धरने की आवश्यकता नहीं।

□

---

my thoughts in an orderly manner beginning with objects the most simple and the easiest to understand, in order to ascend as it were by steps to the knowledge of the most composite, assuming some order to exist even in things which did not appear to be naturally connected. The last rule was to make enumerations so complete and reviews so comprehensive, that I should be certain of omitting nothing."

Descarte's **'Discourse upon Method' Pt. II. (Torey's translation, page 46)**

अध्याय ५

अनुभव

डीकार्ट का आरम्भ-बिन्दु यह था—

Cogito (मैं सोचता हूँ)
Ergo (इसलिए)
Sum (मैं हूँ)

'मैं सोचता हूँ' अर्थात् मेरे मन में विचार उठा करते हैं—यह मेरा पहला अनुभव है। मैं अपनी किसी अवस्था का चिन्तन नहीं कर सकता जब मैं कुछ भी सोचता नहीं। यदि मैं खा रहा हूँ तो उसका स्वाद ले रहा हूँ। यदि मैं लिख रहा हूँ तो उस विषय में सोच रहा हूँ। यदि दौड़ रहा हूँ तो उस क्रिया के विषय में सोच रहा हूँ। ऐसा कौन जीव है जो कुछ-न-कुछ सोचता न हो? यह विचारावलि तो कभी टूटती नहीं। इसका प्रवाह नदी के प्रवाह के समान सदा जारी रहा है। इसलिए सर्वतन्त्र सिद्धान्त यह है कि 'मैं सोचता हूँ'।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि सोचना मेरा काम नहीं, किन्तु मेरे मन का काम है। इसलिए 'मैं सोचता हूँ' के स्थान में 'मेरा मन सोचता है' ऐसा कहना चाहिये। परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं। जो कहता है कि 'मैं नहीं दौड़ा' किन्तु 'मेरी टाँगें दौड़ीं', वह वास्तविक अर्थ को समझता नहीं। टाँगें दौड़ने का उपकरण-मात्र हैं, दौड़नेवाला कोई और ही है। इसी प्रकार मेरा मन भी सोचने का उपकरण-मात्र है, सोचनेवाला तो मैं ही हूँ; टाँगें मेरे बिना दौड़ नहीं सकतीं और मन मेरे बिना सोच नहीं सकता।

डीकार्टे इस आरम्भिक अनुभव से निश्चय करता है कि 'मैं हूँ'। यह एक ऐसी युक्ति है जिसे स्वीकार कर लेना ही चाहिये। हक्सले (Huxley)ने अपनी पुस्तक (Lay Sermons=साधारण व्याख्यान) में इसपर भी आपत्ति की है। वह कहता है कि 'मैं सोचता हूँ' इससे केवल एक ही नतीजा निकालना चाहिये अर्थात् 'मैं सोचता हूँ'। यह कैसे सिद्ध हो गया कि 'मैं हूँ'? परन्तु यह आपत्ति तो व्यर्थ ही है। यदि मैं न होता तो मैं कैसे सोच सकता? क्या हम कह सकते हैं कि हक्सले की पुस्तकें केवल यह सिद्ध करती हैं कि वह लेखक-मात्र है, न कि उसके अस्तित्व को? इसके अतिरिक्त एक बात और सिद्ध हो गई अर्थात् 'मैं एक सोचनेवाला व्यक्ति हूँ'।

सोचने का क्या अर्थ है? इसका विश्लेषण करना चाहिये।

हम आँख, नाक, कान आदि पाँच ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा देखते, सूँघते या सुनते हैं और हाथ-पैर आदि कर्म-इन्द्रियों द्वारा काम करते हैं। यह 'जानने' और 'करने' का व्यापार मन के द्वारा ही होता है। न तो ज्ञान-इन्द्रियाँ ही मन के बिना कुछ जान सकती हैं न कर्म-इन्द्रियाँ ही कुछ कर सकती हैं। इसलिये जानने और करने, दोनों व्यापारों को सोचने के अन्तर्गत ही मानना चाहिये। परन्तु बहुत-से व्यापार हैं जिनमें इन्द्रियाँ शिथिल रहती हैं और विचारावलि शिथिल नहीं रहती। जैसे आँख मींचकर बैठ जाइये और कुछ सोचने लगिये। उस समय बाहर की आँखें बन्द रहने पर भी मन के भीतर बहुत-से रूप-सम्बन्धी विचार उठते रहेंगे। एक चित्रकार पहले आँख से वस्तुओं को देखता है, फिर बाहर देखी हुई वस्तुओं के संस्कारों की सहायता से मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी काग़ज़ पर हाथ से कुछ लिख रहा है। जिस समय आँखें और हाथ दोनों बन्द हैं, उस समय मन में देखने और लिखने दोनों के व्यापार हो रहे हैं। स्वप्न में तो यह व्यापार और भी अधिक विस्पष्ट होते हैं। कल्पना की अवस्था में तो ये व्यापार धुँधले-से प्रतीत

होते हैं, परन्तु स्वप्नावस्था में यह धुंधलापन भी नहीं होता। मेरे हाथ निश्चल हैं, परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि मैं दोनों हाथों से किसी को मार रहा हूँ। मेरी टाँग चारपाई पर पड़ी है, परन्तु देखता हूँ कि किसी वन में तेज़ी से दौड़ रहा हूँ। मेरी आँखें बन्द हैं, परन्तु रूप दिखाई पड़ता है। कान बन्द हैं, परन्तु शब्द सुनाई देते हैं।

ये कल्पना तथा स्वप्न की अवस्थाएँ सिद्ध करती हैं कि मैं आँख-कान आदि इन्द्रियों से अलग एक वस्तु हूँ और सोचना उसी वस्तु का काम है।

यहाँ 'सोचने' के अन्तर्गत दो बातें आ गईं—एक जानना और दूसरी करना।

वेदान्तदर्शन में व्यास जी ने दो सूत्र दिये—

(१) **ज्ञोऽत एव।** (वेदान्त २।३।१८)

(२) **कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्** (वेदान्त २।३।३३)

पहले सूत्र का अर्थ है कि जीव में ज्ञान है। दूसरे का अर्थ है कि जीव में क्रिया-शीलता या कर्तृत्व है।

प्रश्नोपनिषत् में कहा है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्न०—४।९)

अर्थात् वह जीव देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, विचार करनेवाला, समझनेवाला, क्रियाशील, विज्ञानयुक्त है।

अब देखना चाहिये कि जीवात्मा जानने और करनेवाला ही है कि इसके सिवा कुछ और भी? यहाँ भी अपने अनुभव का ही आश्रय लेंगे।

मैं किसी फूल को देखता हूँ, इसके सौन्दर्य से मेरे मन को बड़ा आनन्द होता है। मैं चाहता हूँ कि मैं इसे बार-बार देखा करूँ। फूल के देखने का जो व्यापार है उसका विश्लेषण कीजिये। इसके दो भाग हैं—एक तो मुझको फूल के रूप तथा रंग का ज्ञान

हो गया; दूसरे, मुझे इस ज्ञान के साथ-साथ आनन्द भी हुआ। मैंने किसी भीषण दृश्य को देखा। इस देखने में भी दो भाग हैं—प्रथम तो उस दृश्य का ज्ञान होना; दूसरे, उसके देखने से दु:ख होना। ज्ञान और सुख-दु:ख दोनों मेरे ही अनुभव हैं। ये दो हैं, एक नहीं। जिस वस्तु के जितने ज्ञान को प्राप्त करके मैं एक समय में सुखी होता हूँ, उसी वस्तु के उतने ही ज्ञान को प्राप्त करके मैं दूसरे समय में दु:खी होता हूँ। यदि ज्ञान के फलस्वरूप सुख और दु:ख एक ही अभेद्य अनुभव होते तो ऐसा न होता। ज्ञानेन्द्रियाँ जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करती हैं उसी ज्ञान के साथ-साथ सुख, दु:ख या उदासीनता का भाव भी सम्मिलित है।

अब किसी क्रिया को देखिये। मैं आज प्रात:काल खुले मैदान में दौड़ने लगा। इससे मुझको विशेष प्रसन्नता हुई। यदि कोई पूछे कि तुम क्यों प्रसन्न हो तो मैं उत्तर दूंगा कि अभी वायु-सेवन किया है, इससे हृदय प्रफुल्लित हो उठा है। यहाँ दो व्यापार हैं—कार्यविशेष को करना, और साथ-ही-साथ सुख या दु:ख का भोगना।

इस प्रकार यद्यपि हमारे पास केवल दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं अर्थात् कर्म-इन्द्रियाँ और ज्ञान, परन्तु इन दोनों के व्यापारों के साथ दु:ख का भाव सम्मिलित है जिसको भोग का नाम दे सकते हैं।

अब हमारा अपने विषय में क्या अनुभव हुआ है? यही कि हम न केवल ज्ञाता और कर्त्ता ही हैं, अपितु इसके साथ ही भोक्ता भी। ज्ञान, कर्म और भोग, ये तीन गुण जीव के हुए।

न्याय दर्शन में गौतम मुनि ने जीवात्मा के छ: लिंग बताये हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति।

(न्याय दर्शन १।१।१०)

ये सुख-दु:ख दोनों भोग के अन्दर आ जाते हैं, प्रयत्न कर्म के और ज्ञान तो अलग ही दिया हुआ है। रहे इच्छा और द्वेष, तो इनका सम्बन्ध भी सुख और दु:ख से है, क्योंकि जिस वस्तु से सुख होता है उसी की हमको इच्छा होती है और जिससे दु:ख होता है

उससे द्वेष। इच्छा और द्वेष में ज्ञान, कर्म और भोग, तीनों का कुछ समावेश है। यदि हम अपनी मनोवृत्तियों की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि प्रायः कई वृत्तियों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व मिले-जुले रहते हैं। मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की अलग-अलग तीन कोठरियाँ हों। जब हम किसी कार्य को करते हैं तो जानना और सुख-दुःख अनुभव करना दोनों ही समाविष्ट रहते हैं। यही हाल अन्य वृत्तियों का है।

कणाद मुनि ने आत्मा के लिङ्गों में कुछ शारीरिक क्रियाओं का और समावेश कर दिया है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि।

(वैशेषिक दर्शन ३।२।४)

इस सूत्र में आत्मा के इतने चिह्न बताये हैं—

(१) प्राण अर्थात् साँस को भीतर खींचना।
(२) अपान अर्थात् साँस को बाहर निकालना।
(३) निमेष अर्थात् पलक खोलना।
(४) उन्मेष अर्थात् पलक मींचना।
(५) जीवन अर्थात् शरीर का बढ़ना आदि।
(६) मनोगति अर्थात् मन के व्यापार।
(७) इन्द्रियान्तर-विकार अर्थात् एक इन्द्रिय के कारण दूसरी इन्द्रिय में विकार हो जाना जैसे आँख ने नींबू देखा और मुँह में पानी भर आया।
(८) सुख।
(९) दुःख।
(१०) इच्छा।
(११) प्रयत्न।

न्याय दर्शन की भाँति वैशेषिक में भी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न पाँच लिंग दिये हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त प्राण,

अपान आदि सात और दे दिये हैं।

यहाँ याद रखना चाहिये कि न्याय और वैशेषिक दोनों में आत्मा के 'लिंग' दिये हैं, न कि लक्षण। लिंग का अर्थ है चिह्न, अर्थात् जहाँ आत्मा होगा वहाँ यह चिह्न प्रायः मिलेगा। जीवित पुरुष की पहचान यह है कि वह साँस लेता हो। प्राण और अपान दोनों साँस लेने के ही व्यापार हैं। आँखों के पलक मारने से भी आत्मा की पहचान होती है। जीवित पुरुष की देह में बढ़ने-घटने का विशेष प्रकार का व्यापार होता है जो पत्थर तथा मृतक-शरीर में पाया नहीं जाता। मनोगति और इन्द्रियान्तर-विकार में कुछ-कुछ ज्ञान का अंश अवश्य रहता है। यदि हम अपने अनुभव का आश्रय लें तो हमें उन सब बातों का पता लगता है जिनका गौतम ने न्याय में और कणाद ने वैशेषिक में उल्लेख किया है। बात वही है, केवल शब्दों का भेद है।

अनुभव का विशेष सम्बन्ध मनोविज्ञान अर्थात् साइकॉलॉजी (psychology) से है। इसलिए देखना चाहिये कि आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता इस विषय में क्या कहते हैं।

□

अध्याय ६

मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि ज्ञान, क्रिया और भोग, ये तीन बातें हम अपने में पाते हैं। इसी बात को आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध वर्तमान मनोविज्ञानवेत्ता स्टौट (G. F. Stout, Professor of Logic and Metaphysics in the University of St. Andrews) लिखते हैं—

"जब मनुष्य केवल निरीक्षण में ही संलग्न रहता है तब उसका संसार से केवल ज्ञान का ही सम्बन्ध रहता है, परन्तु अधिक गम्भीर विश्लेषण से ज्ञात होता है कि स्पष्टतया भिन्न-भिन्न रूप हैं जिनमें वह अपने विषयों से सम्बन्धित है। यह जानने, मानने अन्यथा समझने में कि अमुक वस्तुएँ हैं और उनमें ये विशेषताएँ हैं, या अमुक-अमुक वस्तुएँ सम्भव हैं, उसकी जो वृत्ति काम कर रही है उसको ज्ञान-वृत्ति ही कहना चाहिये। परन्तु उस समय भी केवल ज्ञान-वृत्ति ही काम नहीं करती। जो कुछ वह जानता है उससे प्रसन्न, अप्रसन्न या अन्यथा भी होता है। यह भोग-वृत्ति है। वह अपने विषयों के साथ क्रिया-शील भी है। वह इनके विषय में अधिक जानना चाहता है। जो प्रश्न उसमें से उठते हैं उनका उत्तर देना चाहता है। वह उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहता है। यह क्रिया-वृत्ति है।"*

---

*"So far as the man is nearly engaged in watching his relations to the world might appear to be simply *cagnitive* but closer analysis shows that there are three distinctive

"प्रत्येक मानसिक व्यापार के विश्लेषण में तीन वृत्तियाँ स्पष्ट मिलती हैं—ज्ञान-वृत्ति, भोग-वृत्ति और क्रिया-वृत्ति। परन्तु ये अभिन्न वस्तुएँ हैं, एक-दूसरे से अलग नहीं मिलती।"*

"क्रिया और ज्ञान एक ही व्यापार के दो भिन्न-भिन्न पक्ष हैं।"†

यह तो हुआ मन के व्यापार का विश्लेषण। अब देखना चाहिये कि जिसको हम 'मैं' कहते हैं वह क्या वस्तु है ?

इस विषय में मनोविज्ञान के आधुनिक पंडित अमेरिका के हर्वर्ड विश्वविद्यालय (Harvard University) के प्रोफैसर विलियम जेम्स (William James) का कथन विचारणीय है—

"मैं जिस किसी का विचार करूँ, साथ ही कुछ-न-कुछ अपना

---

ways in which he is related to his objects. In perceiving, believing or otherwise apprehending that such things exist and have certain characteristics, or that such and such things are possible, his attitude is cognitive in the strict sense of term. But the cognitive attitude is not present alone. He is pleased or displeased or otherwise affected by what he apprehends. This is the *affective* attitude. He is also active about his objects; he tries to know more about them, who answer the questions they raise. He wishes them, to be altered in some way. This is the active or *connotive* attitude."

(Stouts's **A Manual of Psychology**, p. 98 (revised edition 1929)

* "Cognition, feeling and conation are abstractly and analytically distinct phases in any psychosis; but they are not separable. They do not occur in isolation from each other." (*ibid*, p. 158)

† "Conation and cognition are different aspects of one and the same process." (*ibid*, p. 158)

अर्थात् अपनी व्यक्तिगत सत्ता का भी भान रहता है। साथ ही यह भी भान रहता है कि यह विचार करनेवाला मैं हूँ। इस प्रकार 'मैं' के मानो दो भाग हैं—एक ज्ञेय, दूसरा ज्ञाता; एक विषय और दूसरा विषयी। इसमें दो पक्ष स्पष्टतया पहचान में आते हैं। एक को हम समानार्थ 'माम्' अर्थात् विषय कह सकते हैं और दूसरे को 'अहं' अर्थात् विषयी। मैंने इनको जान बूझकर दो पक्ष कहा है, दो अलग-अलग वस्तुएँ नहीं, क्योंकि इस पहचानने का व्यापार करते हुए भी 'अहं' और 'माम्' (ज्ञाता और ज्ञेय) का अनन्यत्व ऐसा स्वयंसिद्ध है कि सामान्य बुद्धिमत्ता इससे इन्कार नहीं कर सकती।"*

जेम्स का तात्पर्य यह है कि—

(१) जब हम किसी विषय का विचार करते हैं तो हमें अपनी सत्ता का भान अवश्य रहता है।

यह वही बात है जिसको डीकार्टे ने कहा था अर्थात् 'मैं सोचता हूँ' इसलिए सिद्ध है कि 'मैं हूँ'। जेम्स कुछ और आगे बढ़ गया है। वह कहता है कि अन्य विषय को सोचने के साथ-साथ मुझे अपनी सत्ता का भी अनुभव रहा करता है। डीकार्टे ने तो 'सोचने' को अपनी 'सत्ता' के सिद्ध करने के लिए हेतु बनाया था।

---

* "Whatever I may be thinking of, I am always at the same time more or less aware of *myself*, of my *personal existence*. At the same time it is I who am aware; so that the total self of me, being as it were duplex, partly known and partly knower, partly object and partly subject, must have two aspects discriminated in it, of which for shortness we may call one the Me and the other, the I. I call these discriminate aspects and not separate things, because the identity of *I with me* even in the very act of their discrimination is perhaps the most ineradicable dictum of common sense." (**Psychology, p. 176**)

जेम्स कहता है कि 'सोचने' के अन्तर्गत अपनी 'सत्ता' का विचार भी समाविष्ट है।

(२) चूंकि मेरे हर विचार के साथ मेरी सत्ता का भान लगा हुआ है, इसलिए मेरी दो स्थितियाँ हो जाती हैं—एक तो मैं 'ज्ञेय' हूं, दूसरा 'ज्ञाता'। जिस प्रकार 'मेज़' का विचार करते समय 'मैं' ज्ञाता हूं और 'मेज़' ज्ञेय है, इसी प्रकार स्वयं अपना विचार करते समय मैं दो कोटियों में विभक्त हो जाता हूं अर्थात् 'मैं' ही ज्ञाता हूँ और 'मैं' ही ज्ञेय। 'ज्ञेय' का नाम है 'विषय' और 'ज्ञाता' का नाम 'विषयी'। ज्ञाता या विषयी को जेम्स 'अहं' (प्रथम कारक) कहता है और ज्ञेय या विषय को 'माम्' (द्वितीय कारक)।

(३) जेम्स कहता है कि यह 'अहं' और 'माम्' अर्थात् 'मैं' और 'मुझको' एक ही हैं, दो नहीं। मैं जब अपने विषय में विचार करता हूँ तो जाननेवाला भी मैं ही हूँ और जो चीज़ जानी जाती है वह भी मैं ही हूँ। ये अलग-अलग दो नहीं हो जाते।

अब जेम्स ने 'माम्'='मुझको' (me) का विश्लेषण करके तीन भाग किये—

(१) आधिभौतिक माम् (the material me) जिसमें शरीर, वस्त्र आदि हैं।

(२) सामाजिक माम् (the social me) जिसमें पुत्र, कलत्र, मित्र आदि हैं।

(३) आध्यात्मिक माम् (the spiritual me) जिसमें मेरी ज्ञान-सन्तति का सामूहिक रूप (the entire collection of my states of consciousness), मेरे मन की शक्तियाँ और वृत्तियाँ (my psychic faculties and disposition) सम्मिलित हैं।

आध्यात्मिक माम् (the spiritual me) के विषय में जेम्स लिखता है—

"जब हम अपनी सत्ता का 'ज्ञाता' के रूप में विचार करते हैं तो अपने 'माम्' के अन्य रूप सापेक्षतः बाह्य प्रतीत होते हैं (अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि देह, वस्त्र, मित्र, पुत्र आदि सब

हमसे अलग वस्तुएँ हैं)। आध्यात्मिक 'माम्' में भी कुछ अंश अन्य अंशों की अपेक्षा बाह्य प्रतीत होता है, जैसे बाह्य विषयों को ग्रहण करने की शक्तियाँ अपनी इच्छाओं की अपेक्षा कम निकट प्रतीत होती हैं और अपनी ज्ञानात्मक शक्तियाँ अपने क्रियात्मक निश्चयों से कम निकट प्रतीत होती हैं।"*

"इस प्रकार हमारे मन की जो वृत्तियाँ जितनी अधिक क्रियात्मक हैं, उतनी ही आध्यात्मिक 'माम्' का अधिक तात्त्विक अंश हैं, या, यों कहना चाहिये कि हमारे जीवन की सार्वभूत वह क्रियात्मक वृत्ति हमारे आत्मा के जीवन-तत्त्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है।"†

'अहं' या शुद्ध 'मैं' की मीमांसा 'माम्' की मीमांसा से कहीं अधिक कठिन है। यह 'मैं' वह वस्तु है जो ज्ञाता या विषयी है। 'माम्' ('मुझको') केवल भिन्न-भिन्न विषयों से ज्ञेयों में से एक

---

* "When we *think of ourselves as thinkers* all the other ingredients of our me seem relatively, external possessions. Even within the spiritual *me* some ingredients seem more external than others. Our capacities for sensation, for example, are less intimate possessions, so to speak, than our emotions and desires, our intellectual processes are less intimate than our volitional decisions." (**Psychology**, p. 181)

† "The more *active feeling* states of consciousness are thus the more central portions of the spiritual me. The very core nucleus of ourself, as we know it the very sanctuary of our life, is the sense of activity which certain inner states possess. This sense of activity is often held to be a direct revelation of the living substance of our soul." **Psychology**, p. 181)

है। यों कहना चाहिये कि सोचनेवाला यही 'मैं' है।"*

तात्पर्य यह है कि जब हम अपने-आपको 'ज्ञेय' की कोटि में रखते हैं, तब उसके विषय में सुगमता से मीमांसा कर सकते हैं, परन्तु जब 'ज्ञाता' की कोटि में रखते हैं तो मीमांसा करने में कठिनाई होती है, क्योंकि ज्योंही मीमांसा करने लगते हैं त्योंही ज्ञाता के बजाय ज्ञेय की कोटि में आ जाते हैं—ज्ञाता नहीं रहते, ज्ञेय हो जाते हैं। मीमांसा करनी है ज्ञाता की, ज्ञेय की नहीं। ज्योंही मीमांसा का विषय हुए, त्योंही ज्ञेय हो गए, ज्ञाता नहीं रहे। यही आपत्ति है और बहुत बड़ी आपत्ति है जिसका हल समझ में नहीं आता। जबतक हम ज्ञाता हैं, अपनी मीमांसा नहीं कर सकते। जब मीमांसा करते हैं तो ज्ञेय हो जाते हैं, फिर ज्ञाता के विषय में कैसे जानें ?

"इसी के साथ प्रश्न होता है कि यह ज्ञाता क्या है ? यह क्या विचार की बहती हुई धारा है या कोई गहरी और कम बदलनेवाली वस्तु ? पहले बताया जा चुका है कि बहती हुई धारा तो परिवर्तनशील है। परन्तु हम सभी स्वभावत: समझते हैं कि यह 'मैं' तो कोई ऐसी वस्तु है जो सदा एक-सी रहती है। इसी से प्रेरित होकर कुछ दार्शनिकों ने यह उपपत्ति निकाली है कि विचार की बहती हुई धारा की तह में एक स्थायी द्रव्य या कर्त्ता है और यह धारा उसी स्थायी द्रव्य का प्रकार या क्रिया-मात्र है। यही कर्त्ता ज्ञाता है। अवस्था या धारा केवल इसका उपकरण या साधन है। 'जीव', 'मैं', 'आत्मा' इस स्थायी ज्ञाता के भिन्न-भिन्न नाम हैं।"†

---

* "The I or 'pure ego' is a very much more difficult subject of enquiry than the me. It is that which at my given moment is conscious, whereas the me is only one of the things which, it is conscious of. In other words, it is thinker." (**Psychology**, p. 196)

† "And the question immediately comes up, what is

तात्पर्य यह निकला कि एक तो ज्ञान का प्रवाह है जो नदी के प्रवाह के समान निरन्तर बह रहा है। यह एक-सा नहीं रहता। प्रत्येक क्षण में पानी के नये बिन्दु आते और बह जाते हैं। गंगा बह रही है। जो जल कल बह गया वह आज नहीं है। नया जल आ रहा है। इसी तरह जो विचार एक बार आ गया वह फिर नहीं आता। विचारों की गंगा बह रही है। यह सब परिवर्तनशील है, क्षणिक है, हर क्षण बदलता रहता है। परन्तु इसकी तह में एक द्रव्य है जिसके ऊपर यह प्रवाह जारी रहता है। प्रवाह तो बदलता है, परन्तु नदी वहीं रहती है। गंगा का जो जल दो मिनट पहले बह गया वह अब फिर नहीं बहेगा, परन्तु जो गंगा दस हज़ार वर्ष पहले बहती थी वही आज भी बह रही है। गंगा स्थायी है, गंगा का जल क्षणिक है, परन्तु उनकी तह में विचार करनेवाला एक स्थायी द्रव्य है जिसको जीवात्मा कहते हैं। मीमांसा तो विचारों के प्रवाह की हो सकती है, विचार करनेवाले जीवात्मा की नहीं। मनोविज्ञानशास्त्र का विषय यह विचार-प्रवाह ही है, स्थायी नहीं, द्रव्य नहीं। जेम्स इस विषय में लिखता है—

"यदि विचारधाराएँ ऐसी वस्तु है जिनका हमें (बिना किसी अन्य माध्यम के सीधा) प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है और वस्तुत:

---

the thinker ? Is it the passing state of conciousness itself, or is it something deeper and mutable ? The passing state we have seen to be the very embodiment of change. Yet each of us spontaneously considers that by 'I' he means something always the same. This has led most philosophers to postulate behind the passing state of consciousness a permanent *Substance* or *Agent* whose modification or act it is. This Agent is the thinker; the 'state' is only its instrument or means. 'Soul', 'transcendental ego', 'spirit' are so many names for this more permanent sort of thinker." (**Psychology**, p. 196)

यह है भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त, तो यही विचारधाराएँ वह 'ज्ञाता' है जो मनोविज्ञान का विषय है। यदि हम इसके साथ ही अधिक स्थायी ज्ञाता को इस मीमांसा-क्षेत्र में लाना चाहें तो इसका अर्थ यह होगा कि हमें इन विचारधाराओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इन धाराओं का अस्तित्व कल्पनामात्र होगा; या यों कहना चाहिये कि ज्ञेय के साथ-साथ ज्ञाता का भी अस्तित्व मानना चाहिये। परन्तु यह ज्ञाता कौन है ? यह अध्यात्म-विद्या का विषय है"* (मनोविज्ञान का नहीं)।

मनोविज्ञान की पहुँच यहीं तक है, आगे नहीं। इसलिये जेम्स असली ज्ञाता के विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। वह इसको अध्यात्म-शास्त्र के लिए छोड़ देता है। वस्तुत: उसे तो विचार-धारा की ही मीमांसा इष्ट है। यह विचारधारा मनोवैज्ञानिक मीमांसा का विषय होने के कारण 'ज्ञेय' की कोटि में आ जाती है और क्या जेम्स और क्या अन्य मनोविज्ञान-वेत्ता सब अपने अन्वेषण को अपने ही क्षेत्र तक सीमित रखने के लिए इस 'ज्ञेय' से आगे नहीं बढ़ते।

---

* "If passing thoughts be the directly verifiable existents which no school has hitherto doubted them to be, then they are only 'knower' of which psychology, treated as natural science, need take any account. The only pathway that I can discover for bringing in a more transcendental Thinker would be to deny that we have any such *direct* knowledge of the existence of our 'states of consciousness' as common sense supposes us to possess. The existence of the 'states' in question would then be a mere hypothesis, or one way of asserting that there *must be* a knower correlative to all this known; but the problem *who that knower* is would have become a metaphysical problem." (**Psychology, p. 215**)

परन्तु यहाँ एक बात याद रखनी चाहिये। जितने शास्त्र है उन सबके विषय 'ज्ञेय' की कोटि में हैं। जिस प्रकार अङ्कगणित-शास्त्र का विषय 'अङ्क' ज्ञेय है, जिस प्रकार भौतिकी पदार्थ ज्ञेय है, जिस प्रकार वैद्यक शास्त्र का विषय शरीर आदि पदार्थ 'ज्ञेय' हैं, उसी प्रकार मनोविज्ञान का विषय मन की वृत्तियाँ या ज्ञान की धाराएँ भी ज्ञेय हैं। परन्तु अन्य ज्ञेयों और इस ज्ञेय में बड़ा भेद है। आँख जब दूसरे पदार्थों को देखती है तो द्रष्टा और दृश्य में स्पष्ट भेद रहता है, परन्तु जब आँख स्वयं अपने को देखती है तो द्रष्टा और दृश्य दोनों का मेल होता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसका ठीक-ठीक निर्वचन शब्दों में नहीं रक्खा जा सकता। अनुभूति इसकी सबको होती है। जब हम किसी वस्तु की परीक्षा करना चाहते हैं तो उसको पकड़कर उसका निरीक्षण आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जब हम अपने विचारों या अपने ही ज्ञान की परीक्षा करना चाहते हैं तो उन विचारों को उसी प्रकार नहीं पकड़ सकते जैसे किसी परीक्षणालय में काँच की शीशी में किसी गैस-विशेष को। अपने ज्ञान को पकड़ें कैसे? उसका परीक्षण कैसे करें? यहाँ परीक्षक और परीक्षित दोनों का मेल है। क्या हम नहीं चाहते कि जो कुछ हमारे मन में गुज़र रहा है उसकी जाँच-पड़ताल करें? परन्तु जाँच करने का साधन भी तो वही मन है। जहाँ हम सोचने लगते हैं कि हमारे मन में क्या हो रहा है, वहीं मन में जो-कुछ गुज़र रहा था वह लुप्तप्राय हो जाता है, परीक्ष्य पदार्थ भाग जाता है और परीक्षक अपना-सा मुँह लिये रह जाता है। कैसी विचित्र अवस्था है!

यह विचित्रता मनोवैज्ञानिक शास्त्र की विशेषता है। अन्य शास्त्रों में विषय और विषयी अलग-अलग हैं, उनमें व्यतिरेक है, परन्तु मनोविज्ञान में विषय और विषयी दोनों एक हैं। मनोविज्ञानवेत्ता केवल इतना कहकर छुट्टी नहीं पा सकते कि स्थायी विषय अध्यात्मवाद का विषय है, इसलिये हम अपने को केवल ज्ञानधाराओं तक ही सीमित रक्खेंगे। वस्तुतः उन ज्ञानधाराओं में

वह स्थायी तत्त्व भी इसी प्रकार ओत-प्रोत है जैसे माला का धागा माला के दानों में या नदी का तल जल के प्रवाह में; एक दूसरे का समवाय-सम्बन्ध है। ये ज्ञानधाराएँ, जिनपर मनोविज्ञान-पंडित विचार करना चाहते हैं, कोई स्वतन्त्र वस्तु हैं। वे एक मूल तत्त्व के आधीन हैं। उनकी मीमांसा मूल तत्त्व की मीमांसा के अधीन है। एक को दूसरे से अलग करने से मीमांसा अधूरी रह जाती है और कभी-कभी हमारे निश्चय यथार्थ नहीं होते। मनोविज्ञान और अध्यात्मवाद का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों का मौलिक अध्ययन साथ-साथ करना पड़ेगा।

□

अध्याय ७

अहंकार

हमने पाँचवें अध्याय में यह वर्णन किया था कि हमारा अनुभव तीन बातें बताता है अर्थात् 'हम' एक जाननेवाली, क्रिया करनेवाली और भागनेवाली सत्ता हैं। पिछले अध्याय में दी हुई मनोविज्ञान की उपपत्तियाँ भी यही प्रकट करती हैं। यद्यपि जेम्स ने क्रियाशील वृत्तियों को मुख्य और अन्य को गौण बताया है, तथापि बात यह है कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व तीनों वस्तुएँ हैं जो कभी एक-दूसरी से अलग नहीं हो सकतीं। इनमें न कोई गौण है न मुख्य। इन तीनों को मुख्य ही समझना चाहिये। हमारे प्रत्येक ज्ञान में क्रियाशीलता तथा भोग का समावेश है और प्रत्येक भोग ज्ञान और क्रिया के साथ-साथ रहता है। यह सच है कि इनमें से कभी किसी एक का प्राधान्य रहता है, अर्थात् एक का अधिक आविर्भाव होता है और अन्य कुछ दबे-से रहते हैं। परन्तु यह प्रादुर्भाव और तिरोभाव के भी कारण हैं, जिनकी मीमांसा का यह उपयुक्त स्थल नहीं है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि किसी का किसी समय अभाव नहीं होता।

मनोविज्ञानवेत्ताओं ने विचार के तीन भाग किये हैं—फ़ीलिंग (feeling) अर्थात् सुख-दुःख आदि का भान, ज्ञान (knowing) अर्थात् किसी वस्तु का जानना और विलिंग (willing) अर्थात् प्रेरणा शक्ति, या इच्छाशक्ति जिसको क्रियाशीलता कह सकते हैं। इन्हीं को प्राचीन संस्कृत-साहित्य में मन, बुद्धि और चित्त कहा गया है। मन सुख-दुःख का भान करता है, बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती

है, चित्त प्रेरणा करता है। संस्कृत-साहित्य में इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथी वस्तु बताई गई है जिसे अहंकार (egoistic tendency) कहते हैं। यह वह वृत्ति है जिससे मुझे अपने अस्तित्व का भान होता है। यह मन (feeling), बुद्धि (knowing) और चित्त (willing) से अलग वृत्ति है। यह वृत्ति ही सिद्ध करती है कि 'मैं' हूँ। 'मैं' न तो सुख-दु:ख हूँ कि मन (feeling) का विषय होता, न अन्य वस्तुओं की भाँति ज्ञेय पदार्थ हूँ कि बुद्धि का विषय होता, न क्रिया हूँ कि चित्त का विषय होता। 'मैं' सर्वथा इन सबसे भिन्न हूँ। ऊपर की सब वस्तुएँ परिवर्त्तनशील और अस्थायी हैं, 'मैं' स्थायी हूँ और इस 'मैं' की पहचान अन्त:करण की उसी चौथी वृत्ति से होती है जिसे अहंकार कहते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने माइंड (Mind) या विचार के तीन भाग किये हैं, परन्तु प्राचीन वैदिक साहित्यकारों ने इनके चार भाग किये हैं जिसका नाम है अन्त:करण-चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मैं समझता हूँ कि अन्त:करण-त्रय की अपेक्षा अन्त:करण-चतुष्टय अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'अहंकार' को हम अन्य तीन की कोटि में रख नहीं सकते।

'अहंकार' के मानने से पाश्चात्य दर्शनकारों को कितनी आपत्ति पड़ी है, इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

पहले हम आयर्लैण्ड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक बर्कले (Berkley) के मस्तिष्क-विश्लेषण का थोड़ा-सा उल्लेख करते हैं। वह अपनी मानवी ज्ञान के नियमों की पुस्तक 'A Treatise on the Principles of Human Knowledge' में लिखता है—

"जो मानवी ज्ञान के विषयों की जाँच करेगा उसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि ज्ञान के विषयों की तीन कोटियाँ हैं। एक वे विचार जो ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होते हैं, दूसरे वे विचार जो इच्छा आदि मानसिक क्रियाओं द्वारा, तीसरे वे जो स्मृति और कल्पना द्वारा उत्पन्न होते हैं···परन्तु इन अनेक प्रकार के विचारों

या ज्ञान के विषयों के अतिरक्त एक और चीज़ है जो जाननेवाली या विचार करनेवाली है। यही इच्छा करती, यही कल्पना करती और यही याद रखती है। इस विचार करनेवाली चीज़ को ही मैं 'अन्तःकरण', 'आत्मा', 'जीव' या 'मैं' कहता हूँ।"*

बर्कले ने ज्ञान के दो भाग किये—एक का नाम उसने विचार (ideas) रक्खा और दूसरे का अनुभूति (notion)। वह कहता है कि अन्य वस्तुओं के तो मस्तिष्क में विचार उठते हैं, परन्तु अपने 'विचार' नहीं उठते, अपनी 'अनुभूति' होती है। मैं जब मेज़ या कुर्सी देखता हूँ तो मेज़ या कुर्सी के रंग-आकृति आदि के विचार मेरे मन में उठते हैं। इन विचारों का नाम ही मेज़ या कुर्सी है। ये विचार मन के आधीन होते हैं। लेकिन इन विचारों के अतिरिक्त वह चीज़ भी है जो 'विचार' की कोटि में नहीं आ सकती, किन्तु, यह विचारों का 'आधार' है। यह 'आधार' मन का विषय नहीं, विषयी है। यदि विषय होता तो 'विचार' की कोटि में आता और इन्द्रियजन्य संस्कार, कल्पना या स्मृति के समान होता। विषयी होने के कारण यह एक अलग वस्तु है और हमको इसकी अनुभूति होती है।

* "It is evident to any one who takes a survey of the objects of human knowledge, that they are either ideas actually imprinted on the senses, or else such as are perceived by attending to the passions and operations of the mind; or lastly, ideas formed by help of memory and imagination......But besides all that endless variety of ideas or objects of knowledge, there is likewise something besides all that endless variety of ideas or objects of knowledge, there is likewise something which knows or perceives them, and exercises diverse operations as willing, imagining, remembering, about them. This perceiving active being is what I call Mind, Spirit, Soul or Myself."

जिसको बर्कले ने notion या अनुभूति कहा, उसी को अन्तःकरण-चतुष्टय की चौथी वृत्ति अर्थात् अहंकार कह सकते हैं। अन्य वस्तुएँ मन, बुद्धि और चित्त का विषय हैं, परन्तु अहंकार-वृत्ति अपने होने का ज्ञान देती है।

ह्यूम (Hume) ने अपने अस्तित्व के मानने में संदेह किया है। वह बर्कले की ओर संकेत करके कहता है—"कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो समझते हैं कि हमको हर क्षण में अपने अस्तित्व की प्रतीति होती है। हम अपनी सत्ता और इसकी निरन्तरता का अनुभव करते हैं। हमको इसके होने में कोई संदेह नहीं।...परन्तु जब मैं 'अपने' विषय में विचार करता हूँ तो मैं किसी-न-किसी 'विचार' में अटक जाता हूँ, चाहे यह विचार गर्मी या सर्दी के विषय में हो, प्रकाश या छाया के, प्रेम और घृणा के, या दुःख-सुख के। मैं कभी अपने को 'पकड़' ही नहीं सकता और सिवाय विचार के मुझे अन्य किसी चीज़ की प्रतीति नहीं होती।"*

ह्यूम को अपने अस्तित्व पर विश्वास नहीं है, क्योंकि वह अपने को पकड़ नहीं सकता। इसका कारण यह है कि वह अन्तःकरण की चौथी वृत्ति अर्थात् अहंकार पर विचार नहीं करता।

---

* "There are some philosophers who imagine we are every moment intimately conscious of what we call ourself, that we feel its existence and its continuance in existence and are certain, beyond the evidence of a demonstration, both of its perfect identity and simplicity......... For my part, when I enter most intimately into what I call myself, I always stumble in some particular perception or other of heat or cold, light or shade, love or hatred, pain or pleasure, I never can catch myself at any time without a perception and never can observe anything but the perception."

(**Treatise of Human Nature**, Book I, Pt. IV)

वह अपने को मन, बुद्धि और चित्त का विषय समझता है। मन, बुद्धि और चित्त के विषय तो विचार ही हैं। जब वह मन से सोचेगा तो सुख-दु:ख का अनुभव होगा, न कि अपना। बुद्धि से सोचेगा तो कोई विचार उठेगा कि अपना अनुभव होगा। जो पुरुष नदी की तलाश में जाकर यह कहता है कि मैं नदी को पकड़ ही नहीं सका; जब मैंने देखा तो हाथ में जल के बिन्दु पड़ गये, उसके लिए क्या कहा जाय? ह्यूम अपने को उसी प्रकार पकड़ना चाहता है जैसे वह मेज या कुर्सी को पकड़ता है, और जब अपने को पकड़ नहीं सकता तो अपने अस्तित्व में सन्देह कर बैठता है। परन्तु क्या ह्यूम के अन्त:करण में 'अहंकार' की वृत्ति थी ही नहीं? क्या उसका अन्त:करण अन्य लोगों के अन्त:करण से भिन्न था? क्या जिस प्रकार बर्कले को अपने आत्मा की अनुभूति होती थी, उसी प्रकार ह्यूम को नहीं होती थी? ह्यूम के कथन से तो ऐसा ही मालूम होता है। वह लिखता है—

"अगर कोई पक्षपात छोड़कर विचार करे और उसे अपने-आपकी अनुभूति हो तो मैं उससे झगड़ना नहीं चाहता। मैं इतना कह सकता हूँ कि सम्भव है वह भी ठीक हो जैसा कि मैं ठीक हूँ या हमारी प्रकृति इस विषय में भिन्न-भिन्न हो। शायद उसके मन में उस स्थायी तत्त्व के विषय में विचार उठते हों (may perceive) जिसको वह आत्मा कहता है, परन्तु मुझे निश्चय यह है कि मेरे भीतर तो कोई ऐसी वृत्ति नहीं है।"*

---

* "If anyone, upon serious and unprejudiced reflection, thinks he has a different notion of himself, I must confess I can reason no longer with him. All I can allow him is, that he may be in the right as well as I, and that we are essentially different in this particular. He may perhaps, perceive something simple and continued, which he calls himself, though I am certain there is no such principle in me."

परन्तु क्या ह्यूम अन्य पुरुषों की अपेक्षा इतना भिन्न है ? यह तो एक तमाशे की बात है। वास्तविक बात यह है कि ह्यूम अन्य पुरुषों से इतना भिन्न नहीं जितना उसने समझ रक्खा है। बर्कले के दार्शनिक सिद्धान्तों की अयुक्तता का अनुकरण करके ह्यूम भी वैसा ही बन गया। ह्यूम का सन्देह-वाद बर्कले के युक्तिशून्य अध्यात्मवाद का ही अन्तिम परिणाम था। जिस युक्ति से बर्कले ने बाह्य जगत् का निषेध किया, उसी को कुछ आगे बढ़ाकर ह्यूम ने अपने अस्तित्व पर सन्देह करके संगति लगा दी। परन्तु यदि ह्यूम यह सोचता कि वह युक्ति ही नहीं जो मानवी प्रकृति के भिन्न जाय तो शायद वह ऐसा न कहता। वह एक स्थान पर कहता है यदि हम मान लेते हैं कि आग जलाती है और जल शीतलता देता है तो इसका एकमात्र कारण यह है कि ऐसा न मानने से हमको महाकष्ट पहुंचता है। इसका अर्थ क्या ? यही न कि ऐसा न मानो तो व्यवस्था नहीं रहती ? जो बात व्यवस्था को ठीक न रख सके, वह युक्ति-संगत कैसी ? इसी प्रकार हम जबतक अपना अस्तित्व न स्वीकार करें, कोई व्यवस्था ही नहीं बनती। इस बात को ह्यूम ने भी स्वीकार किया है। वह एक स्थान पर लिखता है—

"सौभाग्य की बात है कि जब तर्क इस सन्देह को दूर नहीं कर सकता तो प्रकृति इसको ठीक कर देती है, और मेरा दार्शनिक कष्ट या भ्रम इस सन्देहात्मक वृत्ति के ढीला होने से किसी इन्द्रिय-जन्य संस्कार के कारण धुल जाता है। मैं खाना खाता हूँ, मित्रों के साथ बातचीत तथा मनोविनोद करता हूँ, और जब तीन-चार घंटों के मनोविनोद के पश्चात् फिर दार्शनिक विचारों से संलग्न होता हूँ तो ये विचार ऐसे फीके, अस्वाभाविक और निरर्थक प्रतीत होते हैं कि आगे बढ़ने को जी नहीं चाहता।"*

---

* "Most fortunately it happens that since reason is incapable of disputing these clouds, nature herself suffices to that purpose, and cures me of this philosophical melan-

तात्पर्य यह है कि ह्यूम के दार्शनिक विचार स्वयं उसको भी सन्तोष नहीं देते, दूसरों को तो क्या देंगे! उसने उसमें अपनी तर्कशैली को दोष नहीं दिया, दोषी माना मानवी तर्क-शक्ति को। जो दोष ह्यूम मानवी बुद्धि को देता है, वस्तुतः उसकी युक्ति-शैली का है। बुद्धि कभी प्रकृति के विरुद्ध नहीं जाती। वस्तु-परीक्षा के भी नियम हैं। ये नियम मनुष्य की प्रकृति को देखकर ही बनाये गये हैं और समस्त मानवी मनोव्यापार में ओत-प्रोत हैं। अतः जब कभी हमारी तर्क-शैली व्यवस्था के प्रतिकूल जाए, तभी समझ लेना चाहिये कि कहीं कुछ दोष है जिसको निकालना अत्यावश्यक है।

ह्यूम की इस शिकायत के सम्बन्ध में कि मैं अपने को पकड़ नहीं पाता, पतंजलि ने योगदर्शन में अच्छा प्रकाश डाला है। योग का तीसरा सूत्र यह है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जबतक चित्त की वृत्तियाँ काम करती रहती हैं हम अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो सकते, उसी प्रकार, जैसे हिलते हुए जल में चेहरा नहीं दीखता। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो वह अवस्था आ जाती है जिसकी तलाश में ह्यूम है। जबतक वृत्तियों का निरोध न हो तबतक आत्म-

---

choly and delirium, either by relaxing this bent of mind, or by some avocation and lively impression of my senses which obliterate all these chimeras. I dine, I play a game of backgammon, I converse, and am merry with my friends; and when after three or four hours' amusement I return to these speculations, they appear so cold, and strained, and ridiculous that I cannot find in my heart to enter into them any farther."

(A condensed quotation taken from Aikin's **Philosophy of Hume**)

परीक्षा करते ही आत्मा के स्थान में किसी-न-किसी वृत्ति का सामना हो जाता है। यदि आप नदी के नीचे की तह देखना चाहते हैं तो प्रवाह को बन्द कर दीजिये। नहीं तो तह के होते हुए भी आप जल-बिन्दुओं से ही अटकते रहेंगे, और तह दिखाई न पड़ेगी।

परन्तु क्या जल-बिन्दुओं से अटकनेवाला नदी की तह को मानना छोड़ बैठता है ? ऐसा तो नहीं देखा। यदि किसी से पूछो कि प्रशान्त महासागर की थाह ली ? तो कहेगा—"नहीं।" परन्तु कितने ही समुद्र-विद्या के पंडितों ने बहुधा इस थाह को लेने का यत्न किया है। यदि उनको थाह के अस्तित्व पर विश्वास न होता तो थाह लेने की कोशिश ही क्यों करते ? इसी प्रकार अकेला ह्यूम ही नहीं, संसार के प्रायः सभी मनुष्य अपने विचारों में अटक जाते हैं और विचार-प्रवाह के आधाररूप स्थायी तत्त्व को पकड़ नहीं पाते। परन्तु किसी वस्तु को पकड़ न सकना तो उसके अस्तित्व के संदिग्ध बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। इस अटकने का भी कुछ अर्थ है। इसलिये भी कुछ आधार चाहिए। खेद है कि ह्यूम ने उस आधार की आगे खोज न की।

□

अध्याय ८

जीवात्मा के लक्षण

अब इतनी बातें सिद्ध हो चुकीं—

(१) प्रत्येक पुरुष को किसी-न-किसी अंश में अपनी प्रतीति होती है। यह दूसरी बात है कि जिनको वह प्रमाण कहता है उनके द्वारा उनकी सिद्धि न हो सके।

(२) वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। इसी को लोग जीव कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और बात स्पष्ट ही है जिससे कोई इससे इन्कार नहीं कर सकता और वह यह है कि जीव का भोक्तृत्व परिच्छिन्न है, विभु नहीं; अर्थात् हम किसी एक वस्तु के विषय में ही जान सकते, अनुभव या प्रेरणा कर सकते हैं, सबके विषय में नहीं। हमारा ज्ञान, हमारी क्रिया और हमारा सुख-दुःख परिमित है, अपरिमित नहीं। हम कई हैं, एक नहीं। मेरा ज्ञान मेरे लिए है और दूसरे का ज्ञान दूसरे के लिए। मेरी विचार-शृङ्खला और अन्य पुरुष की विचारशृंखला एक नहीं। यदि किसी कमरे में दो व्यक्ति बैठे हैं तो दोनों की विचारधाराएँ अलग-अलग उनके मस्तिष्कों में बह रही हैं; एक का दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। मैं नहीं जान सकता कि आपके मन में क्या है। अगर आप शब्दों या संकेतों द्वारा बता भी दें तो ऐसा ज्ञान आपका ज्ञान न होगा, किन्तु मेरा ज्ञान होगा। कल्पना कीजिये कि दो पुरुष किसी विषय की बाबत विचार कर रहे थे। वे सो गये। जब सोकर उठे तो सोने से पहले जो उनकी विचारधाराएँ थीं, वे सोने के पीछे

भी अपनी-अपनी धारा से मिलकर बहने लगेंगी। यह सम्भव नहीं है कि यज्ञदत्त की सोने से पूर्व की धारा देवदत्त के जाग उठने से पीछे की धारा के साथ बह निकले। ये सब नदियाँ इतनी अलग हैं कि नदी का जल दूसरी नदी में बह ही नहीं सकता। इससे जीव का परिच्छिन्नत्व और नानात्व सिद्ध होता है। एक शरीर के भीतर वह जीव किसी स्थानविशेष में है या सब स्थानों में फैला हुआ है ? शरीर ही को जीव कहते हैं या जीव शरीर से अलग है ? यह एक अलग प्रश्न है और इसकी मीमांसा आगे की जायेगी। परन्तु, इस स्थल पर केवल इतना बताना काफ़ी है कि मेरा जीव मेरे शरीर के बाहर नहीं और आपका जीव आपके शरीर के बाहर नहीं। इस प्रकार जीवात्मा का यह लक्षण हुआ—

ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वानणुः।

अर्थात्—जीवात्मा वह अणु है जिसमें जानने, क्रिया करने और सुख-दुःख भोगने की शक्ति हो।

यह लक्षण समस्त सजीव पदार्थों पर लागू होता है, न केवल मनुष्य पर ही। पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि भी इसी लक्षण के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि इनमें विभुत्व का अभाव अर्थात् अणुत्व का भाव होने के अतिरिक्त, सुख-दुःख, ज्ञान और प्रेरणा भी पाई जाती है।

इसकी अधिक विवेचना आगे यथास्थल आयेगी ही। इसलिये आरम्भ के लिए इस कामचलाऊ परिभाषा (workable definition) से काम चल सकता है। जब हम जीव के विषय में अन्य बातों की मीमांसा करेंगे तो जीव के लक्षणों पर भी अधिक प्रकाश पड़ेगा और हम इन लक्षणों की यथार्थता के विषय में अधिक जान सकेंगे।

□

अध्याय ६

शरीर और शरीरी

अभी मुख्य प्रश्न हल नहीं हुआ। यह मान भी लिया जाय कि भोक्तृत्व और कर्तृत्ववाली अणु चीज़ का नाम जीवात्मा है, तो भी यह प्रश्न तो वैसा ही रह जाता है कि क्या जीवात्मा कोई ऐसी वस्तु है जो शरीर से अलग है? हमने जब अनुभव से यह मालूम किया कि हम जानते, करते और भोगते हैं तो यह अनुभव हमको इसी शरीर में हुआ है। हमने दूसरे पुरुषों को भी, जो कुछ करते, जानते या भोगते देखा, वे भी शरीरवाले पुरुष थे। आज तक न तो कभी हमने शरीर से निकलकर अपना अनुभव किया और न किसी अन्य को शरीर से बाहर देखा। फिर कैसे मान लिया जाय कि जीव शरीर से भिन्न कोई वस्तु है? हम अपने कुर्ते से अपने को इसलिए अलग मानते हैं कि हम कुर्ते को उतारकर नंगे खड़े हो जाते हैं। यदि इसका हमारा अनुभव न होता तो हम कभी कुर्ते को अपने से अलग न मानते। इसलिए एक पक्ष यह है कि जीवात्मा को कुछ भी क्यों न मानो, यह शरीर से इतर कोई वस्तु नहीं है। इसी पक्ष को पूर्व-पक्ष के रूप में वेदान्तदर्शन के तीसरे अध्याय, तीसरे पद के ५३वें सूत्र में इस प्रकार लिखा है—

"एक आत्मनः शरीरे भावात्।"

(वेदान्त ३।३।५३)

अर्थात्—कुछ लोग आत्मा को ही शरीर मानते हैं क्योंकि शरीर के रहने पर जीवात्मा रहता है, शरीर नष्ट होने पर जीवात्मा नहीं रहता।

श्री शंकराचार्य जी इसका भाष्य करते हुए लिखते हैं—

(१) अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्त-स्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्या-दिष्ववृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति सम्भावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद् विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः । (शांकर भाष्य)

अर्थात्—लोकायतिक लोग कहते हैं कि देह से अलग कोई आत्मा नहीं है। यद्यपि पृथिवी आदि जड़ पदार्थों में अलग-अलग चेतनता नहीं पाई जाती, तथापि, जैसे कई चीज़ों को मिलाकर शराब बन जाती है और उसमें नशे की शक्ति आ जाती है, उसी तरह, यह जड़ पदार्थ मिलकर जब शरीर बन जाता है तो उसमें विज्ञान और चेतनता आ जाती है।

(२) स्वर्गगमनायापावर्गगमनाय वा समर्थो देह व्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात् । देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते । (शांकर भाष्य)

स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिए समर्थ कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसको शरीर से अलग आत्मा माना जाय जिसके कारण शरीर चेतन हो जाता है। प्रतिज्ञा यह है कि देह ही चेतन आत्मा है।

(३) हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति । यद्धि यस्मिन् सति भवत्यसति च न भवति तत् तद्धर्मत्वेनध्यवसीयते ।

अब प्रतिज्ञा के पश्चात् हेतु देते हैं। जो जिसके रहने पर रहता है और न रहने पर नहीं रहता, उसे उसी का धर्म कहते हैं।

(४) यथाऽग्निधर्मावोष्ण्य-प्रकाशौ ॥ (शांकर भाष्य)

उदाहरण—जैसे गर्मी और प्रकाश अग्नि के धर्म हैं।

(५) प्राणचेष्टा - चैतन्य - स्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति, तस्माद-व्यतिरेको देहादात्मन इति । (शांकर भाष्य)

जो लोग प्राण-चेष्टा, चेतनता, स्मृति आदि अलग आत्मा

के धर्म मानते हैं, वे भी तो इनको देह में ही मानते हैं। इनको देह से अलग आत्मा के धर्म मानने में कोई प्रमाण है ही नहीं। इसलिए आत्मा देह का ही नाम है। देह से अलग कोई आत्मा नहीं।

तात्पर्य यह है कि जो कुछ चेतनता, ज्ञान, स्मृति, प्राण आदि का व्यापार देखा जाता है, वह देह से अलग चेतन क्यों माना जाय ?

इसी आशय को जेम्स ने अपनी साइकॉलॉजी में इस प्रकार लिखा है—

"All mental states (no matter what their character as regards utility my be) are followed by bodily activity of some sort. They lead to inconspicuous changes in breathing, circulation, general muscular tension, and glandular or other visceral activity, even if they do not lead to conspicuous movements of the muscles of voluntary life." (p. 5)

"मन की जितनी अवस्थाएँ हैं (चाहे उनका उपयोगिता के विचार से कुछ भी रूप क्यों न हो) उन सबके साथ-साथ किसी-न-किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया अवश्य होती है। चाहे उनसे हमारे शरीर के अंगों में इच्छित परिवर्तन न हो, तो भी प्राण की गति, रक्त-संचालन, सामान्य पुट्ठों के संकोचन-प्रसारण, ग्रन्थियों इत्यादि के कार्यों में कुछ-न-कुछ तब्दीली ज़रूर हो जाती है।"

"The immediate condition of a state of consciousness is an activity of some sort in the cerebral hemispheres. This proposition is supported by so many pathological facts, and laid by physiologists at the base of so many of their reasonings, that to the medically educated mind it seems almost axiomatic. It would be hard, however to give any short and peremptory proof of the unconditional dependence of mental action upon neural change. That a general and usual amount of dependence existed cannot

possibly be ignored. One has only to consider how quickly consciousness may be (so far as we know) abolished by a blow on the head by rapid loss of blood, by an epileptic discharge, by a full dose of alcohol, opium, ether or nitrous oxide—or how easily it may be altered in quality by a smaller dose of any of these agents or of others, or by a fever,—to see how at the mercy of bodily happenings our spirit is. A little stoppage of the gall-duct, a swallow of cathartic medicine, a cup of strong coffee at the proper moment, will entirely overturn for the time a man's views of life. Our moods and resolutions are more determined by the condition of our circulation than by our logical grounds. Whether a man shall be a hero or a coward is a matter of his temporary 'nerves'. In many kinds of insanity, though by no means in all distinct alterations of the brain-tissue have been found. Destruction of certain definite portions of the cerebral hemispheres involves losses of memory and of acquired moter faculty of quite determinate sorts……Taking all such facts together, the simple and radical conception dawns upon the mind that mental action be uniformly and absolutely a function of brain-action varying as the latter varies, and being to the brain-action as effect to cause." (p.6)

इसका सारांश यह है कि हमारी चेतनता सर्वथा हमारे मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर है। मस्तिष्क-सम्बन्धी प्राय: कई तब्दीलियाँ हो जाती हैं। जब मस्तिष्क में चोट पहुँच जाय, या नशे की चीज खा ली जाय, तो विचारों में भी परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी तो चेतनता बिल्कुल जाती रहती है और कभी-कभी उसमें भेद पड़ जाता है। मस्तिष्क में भेद हो जाने से मनुष्य के विचार बदल जाते हैं। मनुष्य में साहस या कायरता भी स्नायुसंस्था की भिन्नता के कारण होती है। पागलपन की कई अवस्थाओं में मस्तिष्क के कोष्ठों में विशेष तब्दीली पाई गई है।

यदि मस्तिष्क का कोई विशेष अंश नष्ट हो जाता है तो स्मृति आदि में विघ्न पड़ जाता है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि **समस्त मानसिक व्यापार का निरन्तर कारण मस्तिष्क की अवस्थाएँ हैं।**

मस्तिष्क शरीर का एक अंग है। इसलिए मानना पड़ता है कि चेतनता शरीर का ही गुण है, न कि शरीर से अलग आत्मा का—

इसपर व्यास ने सिद्धान्त-पक्ष में एक सूत्र लिखा है—

व्यतिरेकस्तद् भावाभावित्वान् न तूपलब्धिवत् ॥

(वेदान्त ३।३।५४)

अर्थात्—आत्मा देह से अवश्य भिन्न है, क्योंकि देह से रहते हुए भी कभी-कभी चेतनता नहीं पाई जाती।

इस सूत्र पर शंकराचार्य जी का भाष्य विचारणीय है—

(१) **यदि देहभावे भावाद् देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत, ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत।**

अर्थात् चूँकि देह के साथ ही ज्ञान आदि का व्यापार देखा जाता है, इसलिए तुम यह मान लेते हो कि यह देह का ही धर्म है। तो यह बताओ कि देह होते हुए भी तो ज्ञान का अभाव देखा जाता है, फिर तुम यह क्यों नहीं मानते कि ज्ञान शरीर का धर्म नहीं है?

(२) **प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहेमृतावस्थायां न भवन्ति।**

मरने पर शरीर तो रहता है परन्तु उसमें प्राण आदि की चेष्टा नहीं रहती।

(३) **देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृतादयः।**

रूप आदि देह के धर्म हैं। ये मरने के उपरान्त भी रहते हैं। स्मृति आदि देह के धर्म नहीं, इसलिए मरने पर शरीर में ये नहीं पाये जाते।

यहाँ शंकराचार्य जी ने शरीर और आत्मा के भेद के लिए यह युक्ति दी है कि चेतनता शरीर का गुण होती तो शरीर में

सदा पाई जाती। इससे सिद्ध होता है कि चेतनता शरीर का धर्म नहीं है; कहीं और जगह से आ जाती है।[1]

परन्तु आगे चलकर शङ्कर जी और अच्छी युक्ति देते हैं—

(४) यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत्तर्हि विषयत्वात् तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत; स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न ह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति। नहि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति। नहि भूतभौतिकधर्मेण सत्ता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयी-क्रियेरन्।

अर्थात्—यदि चेतनता या ज्ञान पाँच भूतों के मिलने से उसी प्रकार हो जाता है जैसे शराब में नशा, तो यह भूत आदि ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं, विषय है, विषयी नहीं। विषय स्वयं विषय नहीं हो सकते; आग अपने को नहीं जलाया करती; नट अपने ही कन्धे नहीं चढ़ सकता; रूप आदि दूसरे रूपों को या अपने रूप को नहीं देख सकते। इसलिए मानना पड़ता है कि जाननेवाले कोई और ही हैं जो इन भूतों से बने हुए शरीर से अलग हैं।

शराब के नशे के सम्बन्ध में मौलाना रूम ने अपनी मसनवी में बहुत अच्छा लिखा है। वह कहते हैं—

बादा अज मा मस्त शुद नै मा अजो॥

अर्थात्—शराब में हमारे कारण नशा होता है, न कि शराब के कारण हममें। वस्तुतः यदि शराब बिना चेतना के नशा पैदा कर सकती तो मुर्दे के मुँह में शराब डालने से भी उसको नशा हो जाता। यदि मुर्दे के मुँह में शराब डाली जाय तो कुछ भी नशा नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि शराब भी तभी तक नशा करती है जबतक उसका चेतन वस्तु से सम्बन्ध है। जब चेतनता निकल गई तो नशीली-से-नशीली शराब भी कुछ नहीं कर सकती।

आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology) का शरीर-विज्ञान

---

१. देखो सांख्य (३।२१) **प्रपंच मरणाद्यभावश्च**—अर्थात् यदि देह को चेतन मानो तो मरना और सुषुप्ति नहीं बन सकेंगे।

(Physiology) से बड़ा सम्बन्ध है और होना भी चाहिये, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि चेतनता शरीर का धर्म है। यदि मन के व्यापार के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता न होती तो मस्तिष्क होता ही क्यों और उस मांस के लोथड़े को मस्तिष्क क्यों कहते ? मैं चाकू से कलम बनाता हूँ। चाकू की यही उपयोगिता है। परन्तु यह तो कोई न कहेगा कि कलम बनानेवाला चाकू है। इसी प्रकार यदि मेरा मन मस्तिष्क से ही सोच सकता है तो क्या यह मान लेना चाहिये कि सोचनेवाला मस्तिष्क से अलग कोई और वस्तु नहीं ?

मन और मस्तिष्क का एक जटिल सम्बन्ध है। मनोविज्ञान-वेत्ताओं के लिए यह प्रश्न बड़ी उलझन का प्रश्न रहा है। जबतक वर्तमान वैज्ञानिक युग का आरम्भ नहीं हुआ था उस समय विद्वान् लोग बिना मस्तिष्क की जाँच के ही मन के व्यापारों की मीमांसा किया करते थे। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने विद्वानों का दृष्टि-कोण बदल दिया। पहले तो उन्होंने भौतिक विज्ञान के द्वारा भौतिक नियमों के आधार पर ही मस्तिष्क की क्रियाओं का निरीक्षण किया, फिर वे एक पग और बढ़ गये और केवल मस्तिष्क को ही चेतनता का कारण मानने लगे। इस प्रकार कुछ दिनों पीछे मस्तिष्क और मन में कुछ भेद नहीं रहा। ये पर्यायवाची शब्द हो गये।

परन्तु फिर एक परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा है। वर्त्तमान मनोविज्ञान-वेत्ता केवल शरीर-विज्ञान के आधार पर ही मन के समस्त व्यापारों की मीमांसा करने में असफल-से प्रतीत होते हैं, और उनका जी चाहता है कि यदि आत्मा को शरीर से अलग मान लेते तो बहुत-से झमेले दूर हो जाते।

मन और मस्तिष्क के व्यापारों की भिन्नता का उल्लेख करते हुए स्टौट लिखता है—

"The difference is so radical that no knowledge of the constitution of the human body, however precise and exhaustive, could of itself, yield any clue whatever to the

existence of modes of consciousness connected with it. Even if the brain of man 'could be so enlarged that all the members of an international Congress of Physiologists could walk about inside his nerve fibres and hold a conference in one of his ganglion cells their united knowledge and the resources of all their laboratories would not suffice' (from Mc. Dougall's **Body and Mind**) to enable them to discover a feeling of sensation, of perception, or idea or anything with which can property be called a mode of consciousness.'' (**A Manual of Psychology,** p. 1)

अर्थात्—यह भेद इतना मौलिक है कि मनुष्य के शरीर की रचना का कितना ही विशद और पूर्ण ज्ञान क्यों न हो, इससे मन के व्यापारों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। "यदि मनुष्य का मस्तिष्क इतना बड़ा हो जाय कि उसमें शरीर-विज्ञानवेत्ताओं की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के सब सभासद् चक्कर लगा सकें और उसके एक कोष्ठ में सभा कर सकें, तो भी उनका परीक्षा-सम्बन्धी सम्पूर्ण सामूहिक ज्ञान भी" मन के विचारों या भिन्न-भिन्न व्यापारों की मीमांसा करने के लिए काफी नहीं है।

"The self is apprehended as clearly and positively characterised. Prominent among its features are those revealed by bodily sensations. But if we say the self is the body we must add that is the body as immediately apprehended by internal perception, not as it is apprehended by physiological research." (*Ibid* p. 19)

अर्थात्—आत्मा के गुण स्पष्ट रीति से अलग प्रतीत होते हैं। इनमें से मुख्य वे हैं जो शारीरिक अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु यदि हम कहें कि आत्मा शरीर ही है तो हमें इतना और जोड़ना चाहिये कि भीतरी अनुभूति से युक्त शरीर, न कि वह शरीर जो शरीर-विज्ञान की परीक्षा का विषय है।

तात्पर्य यह है कि देखने, सुनने या शारीरिक पीड़ा आदि व्यापार में हमको आत्मा के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। यदि

मान भी लिया जाय कि यह केवल शारीरिक अनुभव है तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस शारीरिक अनुभव की मीमांसा करने के लिए केवल शरीर-रचना काफ़ी नहीं है।

ये कथन किस ओर संकेत करते हैं? क्या इनसे स्पष्टतया यह सिद्ध नहीं होता कि मन के व्यापारों को केवल भौतिक आधार पर मानने से मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों में सन्तोषजनक उन्नति नहीं हो सकी और मनोविज्ञान के पंडित इनसे मुक्त होने का मार्ग ढूंढ रहे हैं?

कम-से-कम जो-कुछ इस अध्याय में लिखा गया है उससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि हमारे शरीर से इतर एक पदार्थ है जिसको शरीर कह सकते हैं। यह पदार्थ शरीर नहीं, किन्तु शरीर से अलग है। यह दूसरा प्रश्न है कि शरीर का और शरीरी का क्या सम्बन्ध है। सम्भव है कि शरीरी शरीर से ही उत्पन्न हुई कोई वस्तु हो! सम्भव है कि शरीर के आधीन कोई चीज़ हो! यह तो सम्बन्ध की बात है, और इसका वर्णन आगे आएगा।

□

अध्याय १०

इन्द्रियों की साक्षी

न्यायदर्शन के लेखक श्री गौतम मुनि आत्मा को शरीर से अलग एक पदार्थ मानते हैं। उनके कुछ सूत्र यहाँ दिये जाते हैं। पहला सूत्र—

"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्"

(न्याय ३।१।१)

अर्थात्—जिस चीज़ को हम आँख से देखते हैं उसी को हाथ से छूते हैं। जैसे आँख ने कलम को देखा, फिर हाथ ने छूकर मालूम किया और तब हमको यह ज्ञान हो गया कि आँख से देखी हुई और हाथ से छुई चीज़ हुई एक ही है। यदि आँख से कलम दिखाई देती और हाथ से छूने में न आती तो हमको कलम का ज्ञान न होता। हम कभी न कह सकते कि यह कलम है। इससे सिद्ध होता है कि जो चीज़ आँख और हाथ, दो साधनों को काम में ला रही है वह आँख और हाथ से भिन्न कोई पदार्थ है। इसी का नाम आत्मा है। अगर 'आत्मा' कोई अलग पदार्थ न होता तो हमको ऐसा भान कभी न होता कि जिस चीज़ को हमने आँख से देखा उसी को हाथ से छुआ। आँख देखती है, छूती नहीं; हाथ छूता है, देखता नहीं। फिर वह कौन है जो कहता है कि जिसको देखा उसी को छू रहा हूँ? यदि कहो कि शरीर में शरीर तथा आँख और हाथ से भिन्न कोई ऐसी सत्ता है ही नहीं तो इस एकता के भान होने का क्या कारण है? कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इस प्रकार का भान हमको नित्य होता है। हम कहते हैं कि नींबू का रंग पीला है और स्वाद

खट्टा। पीले रंग को हमने आँख से देखा और खट्टे स्वाद को जीभ से चक्खा। न तो जीभ पीले रंग को देख सकी और न आँख खट्टे रस को चख सकी, परन्तु हमारे भीतर किसी ने यह कहा अवश्य है कि यह पीला नींबू खट्टा है। यह कहनेवाला कौन है?

इसपर आक्षेप करते हैं कि—

"न विषयव्यवस्थानात्" (न्याय ३।१।२)

अर्थात्—कोई अन्य सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं। विषयों की व्यवस्था ही ऐसी है कि आँख रूप को देखे और हाथ कठोरता को छुए या जीभ स्वाद को चक्खे। यदि इन इन्द्रियों से अलग आत्मा कोई भिन्न पदार्थ होता तो विषयों की अलग-अलग व्यवस्था करने की क्या ज़रूरत थी? क्यों न आँख से खट्टापन चख सकते और जीभ से पीलापन देख सकते? न आँख चख सकती है और न जीभ देख सकती है। इससे प्रतीत होता है कि देखनेवाला कोई और है और चखनेवाला कोई और। इन दोनों के बीच में किसी अन्य पदार्थ की कल्पना करनी ही असंगत है।

इसका उत्तर गौतम जी ने यह दिया है कि—

तद् व्यवस्थानादेवाऽऽत्मसद्भावादप्रतिषेधः (न्याय ३।१।३)

अर्थात्—अलग-अलग इन्द्रियाँ अलग-अलग विषयों को ग्रहण करती हैं। यही व्यवस्था तो आत्मा की सत्ता को सिद्ध करती है। जिस बात को तुम आत्मा के न होने का प्रमाण बताते हो, वही वस्तुतः आत्मा के होने का प्रमाण है। जब मैं नींबू के पीलेपन को देखता हूँ तो जो लोग इसमें देखना और चखना, ये दो व्यापार ही बताते हैं वे भूलते हैं। ये दो व्यापार हैं—

(१) आँख पीलेपन को देखती है।
(२) जीभ खट्टेपन को चखती है।
(३) और कोई तीसरी चीज़ यह कहती है कि जिस वस्तु में आँख ने पीलापन देखा उसी में जीभ ने खट्टापन चक्खा। ये दोनों वस्तुतः एक ही चीज़ के गुण हैं। यह तीसरी भावना न तो आँख की है न जीभ की। है अवश्य, और इस भावना के

करनेवाले का पता लगाना चाहिए। यदि कहो कि ऐसी कोई भावना होती नहीं, हमने भ्रम मान रक्खा है, तो यह बात सर्वथा ग़लत है। क्या आपने कभी किसी को यह कहते नहीं सुना कि "नारंगी है तो खूबसूरत, परन्तु खट्टी है"? क्या यह नारंगी का भान कल्पना या भ्रममात्र है? और यदि कल्पना या भ्रम ही है, यदि हमने किसी रूपवती और खट्टी दो चीज़ों को भूल से एक समझ रक्खा है, तो भी इस भूल करनेवाले का अस्तित्व सिद्ध है। यह भूल आँख ने तो की नहीं। उसका काम रूप देखने का था सो उसने कर दिया। जीभ ने भी यह भूल नहीं की। फिर यह भूल किसने की? इसी का नाम तो आत्मा है।

इसी बात को कणाद मुनि ने वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥

(वैशेषिक दर्शन ३।१।१-२)

अर्थात्—प्रत्येक इन्द्रिय के लिए अलग-अलग अर्थ नियत हैं। आँख के लिए रूप, कान के लिए शब्द, जीभ के लिए रस इत्यादि, यह बात तो सिद्ध ही है। यही प्रसिद्धि इस बात को सिद्ध करती है कि इन्द्रियों और उनके अर्थों से अलग एक ऐसी वस्तु है जिसको आत्मा कह सकते हैं। रूप का आश्रय आँखें हैं और शब्द का कान। परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रसिद्धि अर्थात् ज्ञान का आश्रय क्या है? यह ज्ञान किसको होता है? प्रकाश का आँख पर पड़ना ही तो रूप का ज्ञान नहीं। स्पष्ट है कि जिसको रूप का ज्ञान होता है वही आत्मा है।

□

अध्याय ११

स्मृति और विस्मृति

जब इन्द्रियों का बाहरी चीज़ों से संसर्ग होता है तो हमको उनका ज्ञान होता है। परन्तु ज्ञान के इस व्यापार में स्मृति और विस्मृति का विशेष स्थान है। जब हमारा किसी परिचित पुरुष या चीज़ से साक्षात्कार होता है, तो उसे हम जल्दी पहचान लेते हैं। अजनबी चीज़ को पहचानने में देर लगती है। परिचित वस्तु वह है जिसका पहले साक्षात्कार हो चुका हो और इस समय उस पूर्वसाक्षात्कार की याद बनी हो। यदि पहले साक्षात्कार हुआ भी हो और इस समय उसकी याद न हो तो उसको 'परिचित' नहीं कह सकते।

यह स्मृति अर्थात् याद, और विस्मृति अर्थात् भूल, किसको और क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर हमारे जीवात्मा के अस्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। आज मेरा किसी व्यक्ति-विशेष से साक्षात्कार हुआ। इसका अर्थ यह है कि आँखों ने उसे देखा। इस साक्षात्कार से जो ज्ञान हुआ वह क्या आँख के पास सुरक्षित रहेगा या आँख किसी अन्य वस्तु को वह ज्ञान सौंप देगी? आँख ने ज्ञान प्राप्त अवश्य किया, परन्तु क्षणभर पीछे वह ज्ञान आँख के पास नहीं है। अगर वह ज्ञान आँख के पास रहता तो आँख दूसरी किसी चीज़ को देख ही न सकती, आँख के सामने वही व्यक्ति सदा बना रहता। परन्तु ऐसा नहीं है। हम किसी भीषण दृश्य को देखते हैं, और उसको देखकर भयभीत हो जाते हैं। यदि यह दृश्य सदा आँख के सामने बना रहे तो जान पर आ

बने और जीवन कठिन हो जाय। परन्तु नियम यह है कि जब चीज़ सामने से हट जाती है तो ज्ञान भी उतना स्पष्ट नहीं रहता। यही नहीं, एक बात और है। अगर वह भीषण दृश्य सामने बना भी रहता है, तो भी उसकी भीषणता शनैः-शनैः धुँधली पड़ जाती है। ताजमहल में रहनेवाले लोगों को ताजमहल का सौन्दर्य उतना आकृष्ट नहीं करता जितना पहली बार देखनेवाले आगन्तुक को। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारी ज्ञान-इन्द्रियाँ अपनी कमाई को अपने पास नहीं रखतीं, अपितु एक भीतरी कोष में जमा करती जाती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कोषाध्यक्ष कौन है जिसके सुपुर्द आँख अपने देखे हुए रूप को, कान अपने सुने हुए शब्द को, जीभ अपने चखे हुए स्वाद को, नाक अपनी सूँघी हुई गंध को और खाल अपनी छुई हुई कोमलता या कठोरता को सौंप दिया करती है?

शायद आप कहें कि यह कोषाध्यक्ष मन है। परन्तु यह बात नहीं। मन तो इन्द्रियों से भी चंचल और जटिल चीज़ है। यह सम्भव है कि आँख कुछ देर तक अपने विषय के सामने उपस्थित रहे, परन्तु मन तो क्षणभर भी एक स्थान पर नहीं ठहरता। उसने इन्द्रियों द्वारा जिस ज्ञान को प्राप्त किया, उसको वह तुरन्त ही दूसरी किसी सत्ता को सौंपकर आगे चल पड़ता है। मन के लिए न्यायदर्शन में यह बताया है कि—

युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

(न्यायदर्शन १।१।१६)

मन में एक-साथ कई ज्ञान रह नहीं सकते। वहाँ तो अवकाश ही एक ज्ञान के लिए है। जब तक पहला ज्ञान उपस्थित है, दूसरा आ ही नहीं सकता। कभी कोई अनिष्ट बात हमारे मन में ऐसी जम जाती है कि हम उसको भुलाना चाहते हैं। कभी-कभी किसी चिन्ताविशेष के उपस्थित रहने से नींद नहीं आती। उस समय हमारी कोशिश यही होती है कि कोई दूसरा ज्ञान मन में आ जाय और हम पहले ज्ञान को भूल जायँ। यदि मन सब ज्ञानों को

अपने सामने रखता होता तो हमारा समस्त कार्य बिगड़ जाता।

फिर वह कौन-सा कोषाध्यक्ष है जो इन्द्रियों और मन द्वारा कमाये ज्ञान को सुरक्षित रखने का यत्न करता है? यहाँ हम इस बात की मीमांसा करना नहीं चाहते कि 'कोष' कौन है? परन्तु 'कोषाध्यक्ष' अवश्य मालूम होना चाहिए। श्री शंकराचार्य जी वेदान्तदर्शन के ३।३।५४ का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

(१) **उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम् ।।**

(२) **नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात् ।**

(३) **अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् ।**

(४) **स्मृत्याद्युपपत्तेश्च ।**

अर्थात्

(१) ज्ञान स्वयं आत्मा नहीं है, यह देह से अलग है।

(२) यह नित्य है क्योंकि जैसा ज्ञान पहले हुआ वैसा अब भी है, उसमें एक-रूपता है।

(३) हमें यह भान रहता है कि हमने इसको पहले देखा था।

(४) यह स्मृति यही बताती है कि आत्मा कोई देह से अलग पदार्थ है।

इस प्रकार श्री शंकराचार्य जी की युक्ति यह है कि किसी वस्तु की याद रहना ही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। यही तो कोषाध्यक्ष है जिसको इसके एजेण्ट ज्ञान प्राप्त करके दिया करते हैं। इसी का नाम याद है।

आगे चलकर श्री शंकराचार्य जी एक शंका का निवारण करते हैं—

(१) **यत् तूक्तं शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति, तद् वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् ।**

(२) **अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति ।**

(३) **न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति ॥**

अर्थात्

(१) यह जो शङ्का की गई कि यह स्मृति शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं क्योंकि शरीर के रहते रहती है और शरीर के न रहने पर नहीं रहती, यह शङ्का भी दूर हो गई।

(२) दृष्टान्त यह है कि दीपक के रहते हुए चीज़ दिखाई पड़ती है, दीपक के न रहने पर नहीं।

(३) लेकिन कोई नहीं मानता कि देखनेवाला दीपक है। दीपक तो केवल उपकरण है। इसी प्रकार यह माना कि शरीर के रहते हुए ही याद रहती है, शरीर के न रहने पर नहीं। फिर भी यह याद शरीर को नहीं रहती, किन्तु शरीर से अलग आत्मा को होती है। शरीर तो उपकरणमात्र है।

न्यायदर्शन में इसी प्रकार की युक्ति दी गई है—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ (३।१।७)

अर्थात्—जिस वस्तु को बाईं आँख से देखा उसी को दाईं आँख से पहचान सकते हैं। यदि याद रखना आँख का धर्म होता तो बाईं आँख का देखा हुआ बाईं आँख ही पहचान सकती, दाईं आँख नहीं। परन्तु बात यह है कि बाईं आँख ने देखकर जो ज्ञान प्राप्त किया, वह उसने अपने पास न रखकर तुरन्त ही आत्मारूपी कोषाध्यक्ष के पास भेज दिया। उसने दाईं आँख की सहायता से उसे झट पहचान लिया। एक और सूत्र है—

इन्द्रियान्तरविकारात् । (न्याय० ३।१।१२)

अर्थात्—एक इन्द्रिय का ज्ञान दूसरी इन्द्रिय में विकार उत्पन्न कर देता है। इससे भी आत्मा की सिद्धि होती है। कल्पना कीजिये कि मैंने कभी नींबू खाया। आँख ने नींबू का रंग और उसकी आकृति देखी, जीभ ने नींबू का रस चक्खा। हमारी भीतरी शक्ति ने यह धारणा की कि नींबू यह चीज़ है जिसकी, आँख से देखने से,

उसकी अमुक आकृति का ज्ञान होता है। अब किसी और समय एक नींबू देखते हैं। इसी समय हमारे मुँह में पानी भर आता है। क्यों? नींबू जीभ तक तो आया ही नहीं, फिर जीभ में किसी प्रकार का विकार क्यों? इसका उत्तर यह है कि आँख और जीभ दोनों ने भूतकाल में अपनी कमाई आत्मा को दे रक्खी है। आत्मा के पास आकृति और स्वाद दोनों की स्मृति थी। आत्मा को याद था कि अमुक आकृति के नींबू का स्वाद खट्टा होता है, अर्थात् आकृति-विशेष से अटूट्य सम्बन्ध है। अब आँख ने ज्यों ही आत्मा को खबर दी कि वैसी ही आकृतिवाली चीज़ फिर आ गई, वैसे ही उस आधार पर आत्मा की इच्छा दूसरे गुण अर्थात् स्वाद को जानने की हुई और उसकी प्रेरणा से जीभ में पानी भर आया।

इसको एक और दृष्टान्त से समझ सकते हैं। पुलिस और डाकखाना दो भिन्न-भिन्न विभाग हैं। डाक का काम है पत्र लाना और पुलिस का काम है अपराधी को पकड़ना। किसी स्थान से डाक द्वारा पत्र आया कि अमुक अपराधी है। पुलिस ने झट जाकर पकड़ लिया। इससे क्या ज्ञात होता है? अगर पुलिस और डाक किसी तीसरी शक्ति के दो भिन्न-भिन्न उपकरण न होते तो डाक से पत्र आने पर पुलिस अपराधी को न पकड़ती। परन्तु पुलिस और डाक दोनों अलग-अलग स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं। इनकी नियामक एक तीसरी सत्ता है जो दोनों पर आधिपत्य रखती है और जिसकी प्रेरणा से प्रकटरूप से यह प्रतीत होता है कि एक के कहने से दूसरा काम रहा है। इसी प्रकार यह कहना ठीक न होगा कि नींबू को देखकर आँख ने जीभ से कह दिया कि खट्टा पदार्थ आया है। आँख जीभ को कुछ नहीं कह सकती। आँख आत्मा को केवल रूप के विषय में सचेत कर सकती है। आँख क्या जाने कि खट्टा क्या होता है? वह तो इतना कहती है कि कोई पीला-पीला पदार्थ आया है जिसे नींबू कहते हैं। आत्मा अपनी स्मृति से स्वयं यह निश्चय करता है कि गत समय में मैंने ऐसी आकृतिवाले पदार्थ को खट्टा पाया था। कोई कारण नहीं है

कि यह खट्टा न हो। यही कारण है मुँह में पानी भर आने का।

स्मृति के विषय में लोगों ने कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि जिस 'प्रकार नींबू देख रहा हूँ' यह एक अलग ज्ञान है। उसी प्रकार 'मुझे 'नींबू की याद है' यह भी एक अलग ज्ञान है। उन दोनों में कोई समानता नहीं, और न सम्बन्ध। 'मुझे नींबू की याद है' इस ज्ञान से यह क्यों नतीजा निकाला जाय कि 'मैंने पहले नींबू देखा था ?' ये दो सर्वथा स्वतन्त्र ज्ञान हुए। एक को दूसरे पर निर्भर क्यों किया जाय ? जबतक निर्भर न करें जीवात्मा की सिद्धि हो ही नहीं सकती। गौतम मुनि ने न्यायदर्शन (३।१।१३,१४,१५ सूत्रों) में और वात्स्यायन ने उसके भाष्य में इसपर अच्छा प्रकाश डाला है। गौतम या शायद उनके भाष्यकार लिखते हैं—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य

अर्थात्—'स्मृति क्या है' इसको ठीक-ठीक न समझकर लोगों ने यह आक्षेप किया है। अगर वे स्मृति को ठीक-ठीक समझ लेते तो ऐसी शंका न करते और उनको आत्मा का अस्तित्व अवश्य ही मानना पड़ता। वात्स्यायन के शब्द ये हैं—

(१) येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थेऽज्ञासिषमहममुमर्थमिति, एतस्या ज्ञातृज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयः नार्थमात्रम्।

(२) ज्ञातवानहममुमर्थम्, असावर्थो मया ज्ञातः, ज्ञातम् अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूदिति चतुर्विधमेतद् वाक्यं स्मृतिविषयज्ञापकं समानार्थम्।

(३) सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते।

(४) अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृतिः, तया त्रीणि ज्ञानान्येकस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समान कर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि, नाकर्तृकाणि।

(५) किं तर्हि ? एक कर्तृकाणि। अद्राक्षमममुमर्थं, यमेवैतर्हि पश्यामि। अद्राक्षमिति दर्शनं दर्शनसंविच्च, न खल्व-

संविदिते स्वे दर्शने स्यादेतद्राक्षमिति ।

(६) ते खल्वेते द्वे ज्ञाने, यमेवैर्ताह् पश्यामीति तृतीयज्ञानम् ।

(७) एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युंज्यमानो नानाकर्तृको, न नानाकर्तृकः किं तर्हि ? एक कर्तृक ।। इति ।

(१) यह जो याद है कि 'मैंने इस चीज़ को देखा था' यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय के सिवाय इतना और ज्ञान है कि 'पहले देखा था'। जब मैं कहता हूँ कि 'मैंने नींबू खाया था' तो 'था' के प्रयोग से किस ज्ञान का पता चलता है ? यहाँ एक तो हुआ 'मैं', दूसरा 'नींबू', तीसरा 'देखा था'; 'मैं' तो ज्ञाता हुआ, 'नींबू' ज्ञेय हुआ और यह ज्ञान कि किसी 'पहले समय में' देखा था, यह ज्ञान नींबू के ज्ञान से अलग है।

(२) 'मैं इस चीज़ को जाननेवाला हूँ','यह चीज़ मुझसे जानी गई', 'यह ज्ञान हुआ', 'इस चीज़ के विषय में मुझे ज्ञान हुआ'—चारों वाक्य एक ही अर्थ रखते हैं और 'याद' को बताते हैं।

(३) हर ज्ञान के व्यापार में तीन बातें होती हैं—ज्ञाता (जाननेवाला), ज्ञान, और ज्ञेय (जानने की वस्तु)।

(४) प्रत्येक चीज़ में जो स्मृति है उससे एक ही व्यापार में चीज़ें प्रकट होती हैं। इसलिए उनका कर्त्ता एक ही होना चाहिए, कई नहीं, और न वे बिना कर्त्ता के हो सकती हैं।

(५) इससे क्या सिद्ध हुआ ?—कि उनका कर्त्ता एक ही है। 'जिस चीज़ को मैंने देखा था उसी को अब देख रहा हूँ'; 'देखा था' कहने में दर्शन का ज्ञान भी है, अर्थात् न केवल मैं चीज़ को ही देख रहा हूँ अपितु यह भी अनुभव कर रहा हूँ कि मैं देख रहा हूँ। एक और बात है, वह यह कि जबतक स्वयं अपना ज्ञान न हो तबतक यह कहते ही नहीं बनता कि 'मैंने देखा'।

(६) ये तो दो ज्ञान हुए। तीसरा ज्ञान यह भी है कि मैं उसी चीज़ को देख रहा हूँ जिसे पहले देखा था।

(७) इस प्रकार एक विषय में तीन ज्ञानों का होना न तो बिना कर्त्ता के हो सकता है, न एक से अधिक कर्त्ताओं से, किन्तु एक ही कर्त्ता से।

इससे सिद्ध होता है कि याद और भूल, इन दोनों घटनाओं की उस समय तक पूरी-पूरी मीमांसा नहीं हो सकती जबतक कि आत्मा को शरीर और मस्तिष्क से अलग न माना जाय।

यहाँ हमने प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के मत दिये हैं। अब थोड़ा-सा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों से भी पूछ लें कि वे क्या कहते हैं। जेम्स के कुछ उद्धरण विचारणीय हैं। वह स्मृति (Memory) का उल्लेख करते हुए कहता है—

(1) It is the knowledge of an event, or fact, of which mean time we have not been thinking, with the additional consciousness that we have thought or experienced it before.

(2) No memory is involved in the mere fact of recurrance. The successive editions of feeling are so many independent events, each snug in its own skin. Yesterday's feeling is dead and buried, and the presence of to-day's is no reason why it should resuscitate along with to-day's. A further condition is requred before the present image can be held to stand for a *past original.*

(3) The condition is that the fact imaged be expressly *referred to the past* thought as *in the past.*

(4) Memory requires more than mere dating of a fact in the past. It must be dated in *my* past. In other words, I must think that I directly experienced its occurrence. It must have that 'warmth and intimacy' which were so often spoken of in the chapter

on the Self, as characterizing all experiences 'appropriated' by the thinker as his own.

(**Psychology** by William James, pp. 287-288)

इसका सारांश यह है कि कोई घटना हमारे मन में बार-बार आती है तो केवल उसका बार-बार आना ही स्मृति नहीं है। आज हम पानी बरसता देखते हैं, कल फिर पानी बरसता देखते हैं, परसों फिर बरसता देखते हैं। इस प्रकार पानी बरसने की घटना सैकड़ों बार हमारे मन के सामने आती है, परन्तु इसको स्मृति नहीं कह सकते। स्मृति के लिए एक बात तो यह चाहिए कि वह घटना भूतकाल में हुई हो। परन्तु केवल भूतकाल में होने के भाव से ही अमुक भाव स्मृति नहीं कहला सकता। मैं जानता हूँ कि राजा रामचन्द्र त्रेतायुग में हुए। मेरा यह ज्ञान भूतकालिक होते हुए भी स्मृति नहीं है। मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे याद नहीं है कि रामचन्द्र त्रेतायुग में हुए थे, क्योंकि भूतकाल में मैंने यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। मुझे इसका जो कुछ ज्ञान है वह शब्दप्रमाण के आधार पर है। परन्तु स्मृति वह है जिसमें मुझे इतना ज्ञान हो कि अमुक घटना का भूतकाल से मुझे अनुभव हो चुका है। यह 'मुझे' शब्द स्मृति का मुख्य अंग है। जबतक 'मैं' न हूँ यह मैं का भाव आ ही नहीं सकता।

स्टौट (Stout) ने एक अच्छा उदाहरण दिया है—

"A witness giving evidence in a law-court is a typical examples. His mind is bent on recalling past objects and events ; *as they actually occurred in his previous experience*, omitting the inference which he has subsequently drawn from them, or is inclined to draw at the present moment. (**A Manual of Psychology**, by **Stout**, p. 52)

अर्थात् कचहरी में गवाही देने का उदाहरण। कचहरी में

गवाह वही बात कहता है **'जो भूतकाल में उसके स्वयं अनुभव'**[1] में आई हो। उस अनुभव से जो-कुछ नतीजा निकलता है वह गवाही का भाग नहीं है। जो कुछ पहले समय में देखा या सुना हो, वही गवाही कहलाती है।

अगर गवाही से यह सिद्ध होता है कि गवाह का पिछले और वर्तमान दो समस्याओं में एक अलग अस्तित्व है तो अन्य स्मृति से आत्मा की सिद्धि अवश्य हो जानी चाहिये। यदि गवाह भूतकाल में होता, वर्तमान में न होता, तो गवाही न हो सकती। यदि भूतकाल में न होता, वर्तमान में होता तो कोई उसको गवाही न कहता। यदि वह अपने केवल भूतकालिक अनुभव न बताता, तो भी उसको गवाही न कहते। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि 'मुझे याद है कि मैंने पिछले मास में इस मनुष्य को कलकत्ते में देखा था' तो यह याद ही मेरे अस्तित्व को सिद्ध करती है।

अब यहाँ एक प्रश्न शेष रह जाता है। स्मृति को केवल शारीरिक व्यापार ही क्यों न माना जाय ? लोग दवाइयाँ खाकर स्मृति-शक्ति को तेज करते हैं। बहुत-सी चीजों के खाने से स्मृति बिगड़ जाती है। मस्तिष्क में चोट आने से भूतकाल की याद रहती ही नहीं। हमारे एक सब-जज मित्र को एक ऐसा रोग हो गया कि वह अपना सब पढ़ा-पढ़ाया भूल गये, यहाँ तक कि दैनिक भाषा का भी कुछ ज्ञान नहीं रहा।

इस अध्याय के आरम्भ में हमने शंकराचार्य जी का एक वाक्य उद्धृत किया है जिसमें उन्होंने कहा कि स्मृति के लिए उपकरण चाहिए। उपकरण की आवश्यकता कर्ता के न होने को सिद्ध नहीं करती। यदि मैं कलम के बिना नहीं लिख सकता या अच्छा नहीं लिख सकता तो इसका यह अर्थ नहीं कि मैं कलम से

---

१. पतजंलि 'योगदर्शन' में कहते हैं—**अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः** (योग १।११) अर्थात्—पहले अनुभव किये हुए विषय का उगल देना स्मृति है।

अलग एक स्वतन्त्र लिखनेवाला नहीं हूँ, केवल कलम ही लिखनेवाला है। इसी प्रकार यदि मैं मस्तिष्करूपी उपकरण के बिना याद नहीं रख सकता या अच्छी तरह याद रखने के लिए अच्छा मस्तिष्क ही चाहिये तो इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि मस्तिष्क ही याद रखने की घटना की मीमांसा करने के लिए पर्याप्त है। इसका अधिक वर्णन आगे करेंगे।

□

अध्याय १२

मस्तिष्क

(Brain)

जो लोग जीवात्मा के अलग अस्तित्व को नहीं मानते, उनका कहना है कि ये जितने व्यापार जीवात्मा के बताये जाते हैं वे सब शरीर के व्यापार हैं। इस भौतिक शरीर में भूतों के स्वभाव से इस प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं कि मस्तिष्क उसी प्रकार सोचने लगता है। इसकी अधिक मीमांसा करने के लिए शरीर की बनावट और उसके भिन्न-भिन्न अंशों के व्यापार पर ध्यान देना होगा।

शरीर क्या है?

न्यायदर्शन में गौतम मुनि ने शरीर का यह लक्षण किया है—

"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"

(न्याय० १।१।११)

(१) **कथं चेष्टाऽश्रयः? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासा प्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्त्तते, तच्छरीरम्।**

(२) **कथमिन्द्रियाऽऽश्रयः? यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्त्तन्ते स एषामाश्रयः तच्छरीरम्।**

(३) **कथमर्थाश्रयः? यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् उत्पन्नायोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तन्ते, स एषामाश्रयः तच्छरीरमिति।**

(वात्स्यायन-भाष्य)

अर्थात्—शरीर वह है जो तीन चीज़ों का आश्रय है—एक **चेष्टा**, दूसरी **इन्द्रियाँ**, और तीसरे **अर्थ**। किसी ग्रहण करने योग्य या छोड़ने योग्य वस्तु के ग्रहण करने या छोड़ने के लिए जो उपाय किया जाता है उसका नाम है चेष्टा। यह चेष्टा जहाँ की जाती है वह शरीर है। आँख-नाक-कान आदि इन्द्रियाँ जिसके आश्रय से विषयों को जानती हैं उसका नाम शरीर है, और इस प्रकार के ज्ञान से सुख और दुःख जिसके आश्रय से होता है उसका नाम शरीर है।

यहाँ गौतम ने जीवात्मा को अलग मानकर उसके ज्ञान, सुख-दुःख की अनुभूति, तथा चेष्टा का आश्रयमात्र शरीर को माना है। प्रश्न यह है कि शरीर को आश्रयमात्र न मानकर सर्वस्व ही क्यों न माना जाय ?

आइये शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर ध्यान दें। क्या शरीर का प्रत्येक अंग मुख्यरूप से चेष्टा, ज्ञान, अनुभूति के लिए उत्तर-दाता हो सकता है या शरीर में भी मुख्य और गौण दो प्रकार के अंग हैं ?

शायद पहली बात को तो कोई नहीं मान सकता। जब पक्षा-घात (लकवा) हो जाता है तो हाथ में अनुभूति, ज्ञान या चेष्टा की योग्यता नहीं रहती। हाथ पर आग रख दो और हाथ जलने लगे, तो भी न तो जलन मालूम होती है और न हाथ अपने को हटाने का ही यत्न करता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तीनों बातों को मुख्यतया करनेवाला कोई और अंग था जिसके सम्बन्ध शिथिल होने के कारण हाथ उन तीनों बातों के करने में असमर्थ है। मैं इस समय लिख रहा हूँ। मेरे मन में प्रश्न हो रहा है कि क्या लिखने की चेष्टा का आरम्भ हाथ से होता है ? विचारशील पाठक थोड़ा-सा विचार करने से ही समझने लगे कि हाथ केवल शासित वस्तु है, शासन कहीं दूसरी जगह से आता है। विचार मस्तिष्क में उठते हैं और तब हाथ लिखता है। अधिक गढ़ विचारों को लेख-बद्ध करने में हाथ नहीं थकता, मस्तिष्क थक जाता है, क्योंकि

मस्तिष्क को अधिक काम करना पड़ता है।

अब देखना है कि इसके लिए मुख्य अंग कौन-से हैं और गौण कौन-से ? अर्थात् शासन का आरम्भ कहाँ से होता है ?

आधुनिक शरीरविज्ञान-वेत्ता बताते हैं कि जिसको साधारण परिभाषा में मस्तिष्क (Brain) या सोचने का उपकरण कहते हैं, उसके दो भाग हैं—एक को केन्द्र-अंग (Central Part) कह सकते हैं और दूसरे को प्रान्तस्थ-अंग (Peri-pheral Part)। शासन केन्द्र-अंग से आरम्भ होता है, और प्रान्तस्थ-अंग उस शासन के अनुकूल काम करते हैं। इन सबको मिलाकर स्नायु-संस्थान(Nervous system) कहते हैं।

केन्द्र-अंग दो हैं—एक सुषुम्ना (Spinal cord) और दूसरा मस्तिष्क (Brain)। सुषुम्ना (Spinal cord) एक नाड़ी है जो रीढ़ की हड्डी में रहती है और उसका ऊपरी सिरा कपाल में जाकर चौड़ा हो गया है जिसको सुषुम्ना-शासक (Nedulla-oblongata) कहते हैं।

स्नायु-संस्थान (Nervous system) के अन्य भाग जो कपाल (Cranium) के भीतर हैं, ये हैं—

(१) लघुमस्तिष्क (Cerebellum),
(२) मध्य मस्तिष्क (Mid-brain),
(३) बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum)।

स्नायु-संस्थान (Nervous system) का प्रान्तस्थ-अंग (Peripheral part) वह है जो केन्द्र-अंग इन्द्रियगोलक आदि शरीर के अन्य भागों से मिलाता है।

अब देखना चाहिए कि बृहत् मस्तिष्क(Cerebrum)और स्नायु-संस्थान (Nervous system) के अन्य भागों से क्या सम्बन्ध हैं और बृहत् मस्तिष्क, जिसको सोचने का मुख्य उपकरण कहना चाहिए, किस प्रकार कार्य करता है ?

प्रान्तस्थ-अंग और केन्द्र-अंग के बीच में लाखों अत्यन्त बारीक तन्तु हैं। ये तन्तु शिरा-कोष्ठों(Cell-body)में से उसी प्रकार निकले

रहते हैं जैसे वृक्ष के तने में से शाखाएँ। शिरा-कोष्ठों को परस्पर मिलानेवाले तन्तु दो प्रकार के हैं—अन्तःमुखी और बहिर्मुखी। अन्तःमुखी तन्तु बाहर की चीज़ों के संस्कारों को केन्द्र-अंग तक ले जाते हैं। इनको ज्ञान-तन्तु (afferent nerves) कह सकते हैं। बहिर्मुखी तन्तु केन्द्र-अंग से चलकर शरीर के क्रिया करनेवाले अवयवों को प्रेरित करते हैं। इनको प्रेरणा-तन्तु (efferent nerves) कह सकते हैं।

इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। आपका पैर अकस्मात् आग पर पड़ जाता है और आप तुरन्त पैर को हटा लेते हैं। यहाँ दो बातें हैं—एक पैर का जलना और दूसरा पैर को हटाना। यह कैसे होता है? मस्तिष्क ने क्या किया? जब पैर आग पर पड़ा तो संस्थान के प्रान्तस्थ-अंगों से आग का संसर्ग होते ही ज्ञान-तन्तुओं द्वारा केन्द्र-अंग को खबर मिली कि कोई जलनेवाली चीज़ आ गई। केन्द्र ने प्रेरणा-तन्तुओं द्वारा प्रेरणा की कि पैर हटा लो। यह काम इतनी जल्दी से हुआ कि भिन्न-भिन्न क्रियाओं के भेद का पता न चल सका। परन्तु भेद है अवश्य। आग द्वारा जलने का भान होना और यकायक पैर हटा लेना—ये दो स्पष्ट क्रियाएँ हैं।

यहाँ समासरूप से एक बात और बता देनी चाहिए। ज्ञान-तन्तु और प्रेरणा-तन्तु, दोनों मस्तिष्क के एक ही भाग में नहीं पहुँचते, और न सब ज्ञान-तन्तु या सब प्रेरणा-तन्तु ही एक स्थान में पहुँचते हैं। इन सबके लिए मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भाग बँटे हुए हैं, जैसे किसी दफ्तर में भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न कमरे होते हैं—डाक लेने का कमरा और है, उस डाक पर विचार करने का और, तथा उस विचार के अनुकूल कार्य करने का और।

"The local separation of the parts of the cerebrum connected with different sense-experiences is founded on the "separateness of the incoming channels from the

organs of sense."

(Sherrington, **Encyclopaedia Britannica**, Vol. 14, p. 411, quoted by Stout)

अर्थात्—बृहत् मस्तिष्क का वह भाग जो ज्ञान-तन्तुओं से सम्बन्ध रखता है, भिन्न-भिन्न ज्ञान-इन्द्रियों से आए हुए ज्ञान-तन्तुओं की अपेक्षा से बँटा हुआ है। चक्षु-इन्द्रिय से आए हुए ज्ञान-तन्तुओं के लिए अलग कमरा है, श्रोत्र-इन्द्रिय से आए हुए ज्ञान-तन्तुओं के लिए अलग। इसी प्रकार अन्य सबके लिए अलग-अलग कमरे हैं। यही हाल प्रेरणा-तन्तुओं का है।

"First comes the area concerned with moments of the toes, then follow consecutively those for movements of the ankle, the knees, the hip, the shoulder, the elbow, the wrist, the fingers and thumb, the eyes, the ear, the eyelids, the nose, the closure of jaw, opening of jaw, vocal chords and mastication." (Stout, p. 74)

अर्थात्—"शरीर में जो निचले अंग हैं उनका सम्बन्ध मस्तिष्क के ऊपरी अंगों से है, और जो ऊपरी हैं उनका निचले अंगों से, जैसे—पैर की उँगलियाँ शरीर में सबसे निचला भाग हैं, उनको प्रेरित करनेवाले प्रेरणा-तन्तुओं का सिरा मस्तिष्क में सबसे ऊपर की ओर है, फिर एड़ियों का, फिर घुटनों का, फिर कमर का, फिर कन्धों का, कुहनियों का, फिर कलाई का, उँगली-अँगूठे का, आँख का, कान का, पलकों का, नाक का, जबड़ा बन्द करने का, जबड़ा खोलने का, शब्द उच्चारण करने का और खाना चबाने का।"

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिये। मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों की लम्बाई-चौड़ाई बाहरी अंगों की लम्बाई-चौड़ाई के अनुकूल नहीं है, किन्तु इसकी मात्रा प्रेरणा की जटिलता के अनुसार है। उदाहरण के लिए हाथ के प्रेरणा-तन्तु मस्तिष्क के जितने भाग को घेरे हुए हैं उनसे बहुत कम भाग उन तन्तुओं के लिए हैं जिनका सम्बन्ध पेट और गर्दन से है।

"The part played by motor areas seems to be limited to the production and coordination of movements. It would seem that they are not directly connected with sensations or sensory images or with anything which is properly mental. It was once supposed that the outward discharge of nervous impulses from the cortex to the muscle was immediately connected with a peculiar kind of sensation, called 'sense of effort' or 'sense of innervation'. But this view has been generally discarded".

(Stout, p. 74)

अर्थात्—"मस्तिष्क का प्रेरणा-क्षेत्र केवल प्रेरणाओं से ही सम्बन्ध रखता है। उसका ज्ञान-सम्बन्धी किसी क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं है। पहले लोग समझते थे कि मस्तिष्क से जो प्रेरणा उठती है उनके साथ-साथ एक प्रकार की विशेष अनुभूति भी होती है जिसको 'प्रेरणा-अनुभूति' कह सकते हैं, परन्तु अब प्रायः इस सिद्धान्त को त्याग दिया गया है।"

स्टौट महोदय का कहना है कि प्रेरणा-क्षेत्र (motor areas) का इच्छा-शक्ति (will) से सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसकी पुष्टि में उन्होंने कुशिग (Cushing) द्वारा किये हुए दो परीक्षणों का उल्लेख किया है। कुशिग ने दो रोगियों के मस्तिष्क के प्रेरणा-क्षेत्र और त्वक्-इन्द्रिय-क्षेत्र को खोलकर परीक्षण किया। जब उन्होंने प्रेरणा-क्षेत्रों को उत्तेजन दिया तो शरीर के तत्सम्बन्धी अंगों में गति उत्पन्न हुई, परन्तु किसी प्रकार की अनुभूति न हुई। जब त्वक्-इन्द्रिय के क्षेत्र को उत्तेजना दी तो किसी अंग में गति पैदा पैदा न हुई, परन्तु स्पर्श की अनुभूति अवश्य हुई। एक रोगी को ऐसा मालूम हुआ जैसे ठण्ड-सी लगती हो। दूसरे ने ऐसा अनुभव किया मानो वह किसी चीज को स्पर्श कर रहा है।

(**Halliburton**, op cit, p. 279)

इसका सारांश यह निकला कि—

(१) ज्ञान-तन्तु और प्रेरणा-तन्तु समस्त शरीर में फैले हुए